

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 7 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2009

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

<i>सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य</i>	5
1. भारत के तैंतीस कोटि देवता <i>लोकेशचन्द्र अनु. बाबूराम वर्मा</i>	9
2. वीर सावरकर और हिन्दुत्व <i>सुरेश शर्मा</i>	12
3. स्वाध्याय आन्दोलन : डायरी के पृष्ठों से <i>रमेश चन्द्र शाह</i>	22
4. डॉ. लोहिया की पावक और प्रेरणाप्रद स्मृति में <i>रामेश्वर मिश्र 'पंकज'</i>	32
5. गुरु नानक : साधना मार्ग और विद्रोह की भूमिका <i>महीप सिंह</i>	48
6. हिमालयी रजवाड़ों में प्रजातन्त्रीय आन्दोलन की परम्परा <i>ए.सी. सिन्हा</i>	57
7. कश्मीर की त्रासदी और हिन्दी साहित्य <i>शत्रुघ्न प्रसाद</i>	71
8. प्राचीन भारतीय विज्ञान के कुछ बिम्ब एवं विज्ञान कथा <i>राजीव रंजन उपाध्याय</i>	79
9. हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सिनेमा की भूमिका <i>तुकाराम दौड</i>	87
10. भारत है संज्ञा विराग की उज्ज्वल आत्मउदय की : 'दिनकर' <i>श्रीराम परिहार</i>	97

11.	प्रेमचन्द की प्रासंगिकता का मतलब कामेश्वर पंकज	106
12.	नवीन मूल्यों का वाहक है आधुनिक काव्य अपर्णा सारस्वत	113
13.	पुस्तक-समीक्षा हिन्दी में दक्षिण-भारतीय साहित्य सत्यमित्र दुबे	119
14.	निमाड़ी साहित्य का इतिहास सत्यमित्र दुबे	121
	पाठकीय प्रतिक्रिया	123
	प्राप्ति-स्वीकार	126

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

छोटे राज्यों के निर्माण से जुड़ी समस्याएँ

भारत एक बड़ा देश है। स्पष्टतः किसी भी बड़े देश की तरह इसकी भी अपनी समस्याएँ हैं। हमारी सबसे बड़ी समस्याओं में से एक नित्य नये राज्यों के गठन की माँग से जुड़ी समस्या भी है। ऐसी ही माँग को लेकर तेलंगाना राष्ट्र समिति के अध्यक्ष के. चन्द्रशेखर राव दो सप्ताह पहले आमरण भूख हड़ताल पर बैठे थे। उनके भूख हड़ताल के ग्यारहवें दिन, आज से पाँच दिन पहले, भारत के गृह मंत्री पलनिअप्पन चिदम्बरम ने घोषणा की कि तेलंगाना राज्य के गठन की प्रक्रिया शुरू की जाएगी। ध्यातव्य है कि 19 अक्टूबर 1952 के दिन अलग तेलुगू भाषी राज्य के गठन की माँग करते हुए पुराने कांग्रेसी नेता पोट्टिट श्रीरामुलु इसी तरह भूख हड़ताल पर बैठे थे। 56 दिन की हड़ताल के बाद उनकी मृत्यु हो गयी थी। फिर हिंसात्मक घटनाओं के बीच आंध्र प्रदेश राज्य के गठन की घोषणा हुई थी। भारत के प्रथम भाषायी राज्य के रूप में नये राज्य ने एक अक्टूबर 1953 से काम करना शुरू किया था। आन्ध्र प्रदेश एवं तेलंगाना दोनों के निर्माण के लिए गांधीजी के अस्त्र भूख हड़ताल का सहारा लिया गया, इस अंतर के साथ कि पहली बार इसका प्रयोग प्रथम भाषायी राज्य के निर्माण के लिए हुआ था, जबकि दूसरा उसे तोड़ने के लिए। अन्तिम समय तक चक्र पूरा घूम चुका था। यह बात अलग है कि तेलंगाना का विरोध भी उतने ही जोर शोर से हो रहा है, आन्ध्र प्रदेश के तटीय क्षेत्र एवं रायलसीमा में। प्रदेश के विधायकों, मंत्रियों के बीच बगावत की सी स्थिति पैदा हो रही है। भूख हड़ताल, हिंसात्मक कार्रवाईयों के मार्ग तेलंगाना विरोधी भी अपना रहे हैं। दिल्ली से आ रहे सिग्नल साफ संदेश दे रहे हैं कि तेलंगाना निर्माण की राह उतनी सुगम नहीं होगी और न नये राज्यों की माँग करनेवालों की आशाएँ जल्द फलीभूत होंगी।

आजादी के ठीक बाद भाषायी राज्यों की माँग को लेकर जो आन्दोलन चले उससे राज्य पुनर्गठन आयोग बना। 1956 में नये भाषायी राज्य बने। बम्बई को तोड़कर महाराष्ट्र एवं गुजरात तथा पंजाब से पंजाब एवं हरियाणा अलग राज्य बाद में बने। भारत के सोलहवें राज्य के रूप में नागालैण्ड के निर्माण का आधार भाषायी नहीं था। उसके निर्माण को आधार बनाकर मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर एवं त्रिपुरा बने; पूर्वोत्तर भारत के राज्यों का पुनर्गठन हुआ। गोवा एवं सिक्किम जैसे राज्यों के निर्माण की कहानी एवं आधार अलग हैं।

तेलंगाना के निर्माण की घोषणा से नये राज्यों की माँग करने वाले उत्साहित हुए हैं, यद्यपि प्रणव मुखर्जी ने स्पष्ट कहा है कि और नये राज्य नहीं बनाए जायेंगे। फिर भी जो माँग उठी रही हैं उनका उल्लेख आवश्यक है:

(क) भाषायी राज्यों के गठन की माँगों के विपरीत आज मराठी-भाषी महाराष्ट्र से अलग विदर्भ की, गुजराती-भाषी गुजरात से अलग सौराष्ट्र एवं कच्छ की, कन्नड़-भाषी कर्नाटक से अलग कुर्ग की माँग धीमे स्वर में की जा रही है जो भाषायी राज्यों की माँग की उल्टी प्रक्रिया का द्योतक है। ध्यातव्य है कि तमिलनाडु के बनियार-बहुल उत्तरी जिलों को अलगकर नया प्रदेश बनाने की माँग पी.एम.के. अध्यक्ष रामदास ने किया है, जिसका विरोध करुणानिधि कर रहे हैं।

(ख) उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती स्वतः उस प्रदेश से अलग हरित प्रदेश (पश्चिमी उत्तर प्रदेश), पूर्वांचल (पूर्वी उत्तर प्रदेश; बिहार के भोजपुरी भाषी जिलों को मिलाकर) एवं बुन्देलखण्ड (उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के जिलों को मिलाकर) की माँग कर रही हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अजीत सिंह की पार्टी हरित प्रदेश के लिए एवं बुन्देलखण्ड मुक्ति मोर्चा बुन्देलखण्ड के निर्माण के लिए प्रयत्नरत रहे ही हैं। बिहार में मिथिला प्रदेश की माँग बहुत पुरानी रही है। किसनगंज से चम्पारण तक के नेपाल सीमा पर अवस्थित जिलों को मिलाकर सीमांचल की माँग तस्लीमुद्दीन ने किया था। इसी प्रकार जम्मू को कश्मीर से अलग प्रदेश बनाने, उत्तर बंगाल में कामतापुर राज्य के गठन (असम के कोच राज्यवंशी क्षेत्र को मिलाकर) की बात उठती रही है।

(ग) असम के जनजाति बहुल जिलों के विकास को ध्यान में रखकर संविधान की षष्ठम अनुसूची का प्रावधान किया गया था तथा “खासी एवं जयन्तिया पहाड़ी जिला”, “गारो पहाड़ी जिला”, “मिकिर एवं उत्तर कछार पहाड़ी जिला” एवं “मिजो पहाड़ी जिला” में स्वायत्त जिला परिषदों की स्थापना की गयी थी एवं इन परिषदों को संवैधानिक मान्यता एवं अधिकार दिए गये थे। बाद में खासी, जयन्तिया एवं गारो लोगों के लिए अलग राज्य मेघालय बना; स्वायत्त जिला परिषदें न केवल बनीं रहीं, बल्कि उनकी संख्या भी बढ़ी। मिजो पहाड़ी जिला मिजोरम बना; वहाँ भी स्वायत्त जिला परिषद न केवल बनीं रहीं, बल्कि हमार एवं चकमा लोगों के लिए अलग स्वायत्त परिषदें भी बनीं। संयुक्त मिकिर एवं उत्तर कछार जिला को बाँटकर दो जिला एवं दो स्वायत्त जिला परिषदें बनीं। दोनो जिलों में अलग राज्य की माँग यथावत है; हिंसक आतंकवादी संगठन भी इस के लिए कार्यरत हैं।

नागालैण्ड के निर्माण के बाद जो सबसे बुरी बात हुई वह यह कि किसी राज्य की माँग करते समय जनसंख्या, क्षेत्रफल, राज्य की आय, आर्थिक आत्म निर्भरता की शर्तों को ताक पर रख दिया गया। अब कोई भी क्षेत्र चाहे उसकी जनसंख्या या क्षेत्रफल एक छोटे से जिले की जनसंख्या या क्षेत्रफल से कम हो, आन्तरिक आय कुछ भी न हो, अपने लिए अलग राज्य की माँग कर सकता था, और पूर्वोत्तर भारत में ऐसा बार-बार हुआ और लोग अपनी माँग मनवाने में सफल भी रहे। गठन के समय नागालैण्ड राज्य की जनसंख्या मात्र 3 लाख 71 हजार थी। राज्य की आन्तरिक आमदनी नगण्य थी। राज्य बनने के बाद दिल्ली के पैसे से रातों रात नागालैण्ड संसाधन सम्पन्न क्षेत्र बन गया। पड़ोस में ऐसा नहीं हुआ। वहाँ संसाधनों की कमी

बनी रही। नागालैण्ड बनने से सबसे अधिक लाभ राजनीति करनेवालों एवं कालेजों/विश्वविद्यालयों से डिग्री लेकर निकले युवकों या सरकारी कर्मचारियों को हुआ। जहाँ असम विधान सभा में मात्र पाँच नागा विधायक जाते थे, वहीं उनकी साठ सदस्यीय विधान सभा, अपना मंत्रिमंडल, तीन दर्जन से अधिक मंत्री या समकक्ष पद, उन पदों से जुड़ी सारी सुविधाएँ, इज्जत। बहुत सारे लोग जो मुश्किल से मुखिया बन सकते थे, उनके लिए मंत्री बनना एवं मुख्यमंत्री बनने का सपना देखना आसान हो गया। फिर जहाँ मात्र एक नागा पहाड़ी जिले के उपायुक्त का कार्यालय होता था, वहीं राज्य सचिवालय, बीसों निदेशालय, आधे दर्जन से अधिक जिला मुख्यालय आदि खुलने से नौकरी एवं पदोन्नति के असीम अवसर सामने आये। कई लोग मुश्किल से उपायुक्त बन पाते उनके लिए सर्वोच्च सरकारी पदों पर पहुँचना आसान हो गया। स्पष्टतः नागाओं के पड़ोसियों से ये बातें छिपी नहीं रह सकीं। उन्हें लगा कि वे भी बन्दूक उठा लें और अलगाव की भाषा बोलने लगे तो वह सब कुछ पा सकते हैं, जो नागाओं को मिला है। और हुआ भी वैसा ही। आज पूर्वोत्तर में आठ छोटे राज्य हैं, (यदि सिक्किम को जोड़ लें), बीसों स्वायत्त जिला/जनजाति परिषदें हैं; फिर भी कर्बी आंगलौंग, उत्तर कछार एवं बोड़ो लैण्ड की माँग यथावत है। थोड़ा और पश्चिम बढ़ें तो कामतापुर एवं गोरखालैण्ड के लिए भी संघर्ष जारी है। जहाँ 1950 के दशक में नागा नेशनल काउन्सिल ने बन्दूक उठाया था, वहीं आज 100 के लगभग छोटे बड़े दल ऐसा कर रहे हैं और भारत सरकार किसी से भी बातचीत की हरी झंडी दिखाती हैं; 2-4 लोगों के हथियारबन्द दल से भी “सीज-फायर” का समझौता करती है। स्पष्टतः हमारे पास इन समस्याओं के समाधान की न तो कोई नीति है और न दृष्टि। नये राज्यों के निर्माण के विषय में तो नागालैण्ड के निर्माण के समय से ही हमने सारे तर्क त्याग दिए और उन तर्कों की वापसी के लिए हम अभी भी सचेष्ट नहीं हैं।

इस देश में नये राज्य बनाने के सारे संघर्ष जनता की भलाई के नाम पर किये जाते हैं। लेकिन राज्य बनने के बाद वे राजनीति-कर्मियों एवं नौकरशाहों की चारागाह बन जाते हैं। आखिर झारखण्ड या उत्तरांचल बनने के कुछ वर्षों के अंदर आधे-आधे दर्जन मुख्य-मंत्री बनने के पीछे जनता की भलाई का कौन सा तर्क काम कर रहा था? फिर “मधु कोड़ा सिण्ड्रेम” का औचित्य क्या है? छोटे से छोटे राज्य में भी विकास का लाभ समाज के वंचितों तक क्यों नहीं पहुँच पाता? सघनतम प्रशासनिक व्यवस्था एवं विकास मशीनरी के बावजूद छोटे से छोटे राज्य में भी विकास की क्षेत्रीय असमानता क्यों? फिर राज्यों के बँटवारे के बाद सरकारी मशीन के विस्तार पर लगाम क्यों न लगे? राज्य नौकरी देने की मशीन बनकर क्यों रह जायँ? आवश्यक है कि नये राज्यों के निर्माण के पहले उनकी आत्म-निर्भरता आदि पर पूरा विचार कर नीतिगत निर्णय लिए जाएँ; नया राज्य गठन आयोग बने जो उन नीतियों के ढाँचे में सलाह दे। जो नये राज्य बने हैं, उनके अब तक के काम पर श्वेत-पत्र भी जारी किया जाना चाहिए।

ब्रज बिहारी कुमार

भारत के तैंतीस कोटि देवता

लोकेशचन्द्र*

अनु. बाबूराम वर्मा**

एक सामान्य किन्तु आधारहीन विश्वास फैला दिया गया है कि हिन्दुओं के तैंतीस करोड़ देवता हैं। इसमें राज्य की वैदिक अवधारणा को गलत समझने और इसीलिए कोटि शब्द की भ्रान्त व्याख्या किए जाने से ऐसा हुआ है। तैंतीस देवताओं का उल्लेख यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य वैदिक और उत्तरकालीन ग्रन्थों में आया है। तैंतीस की यह संख्या देवताओं के सन्दर्भ में पारसी धर्मशास्त्र ग्रन्थ अवेस्ता में भी मिलती है।

त्रयस्त्रिंश देव अभिव्यक्ति संस्कृत में लिखित बौद्ध ग्रन्थों जैसे दिव्यावदान और सुवर्ण प्रभासोत्तम सूत्र में देवताओं की श्रेणियों की सूची में भी मिलती है। तावत्रिंश लोक का उल्लेख जातकों और अन्य पालि ग्रन्थों में भी मिलता है। भगवान बुद्ध अपनी माता को उपदेश देने के लिए तावत्रिंश स्वर्ग में गए थे, जहाँ उनका जन्म हुआ था।

त्रयस्त्रिंश कोटि में कोटि शब्द का अर्थ तैंतीस करोड़ संख्या नहीं है। यहाँ कोटि का अर्थ 'परम श्रेष्ठ, सर्वाधिक' है, अर्थात् 33 परम देवताओं से है। कोटि का अर्थ वही है जो उच्चकोटि में लिया जाता है। यह समस्या 725 ई. में भी विद्यमान थी जब शुभाकर सिंह और उनके सहयोगी चीनी ई-त्सिड ने महावैरोचन सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। उन्होंने सप्त कोटि बुद्ध यौगिक का अर्थ चीनी में शिची (सप्त) कोटेइ (कोटि) बुत्सु (बुद्ध) दिया जिसमें उन्होंने कोटि का अनुवाद नहीं किया बल्कि कोटेइ उच्चारण में उसे लिप्यान्तरित कर दिया। बुद्ध सात करोड़ नहीं थे, बल्कि सात परमश्रेष्ठ बुद्ध थे। एक ऐतिहासिक और शेष छह ऐतिहासिक बुद्ध के पूर्वगामी बुद्ध।

*डॉ. लोकेशचन्द्र, डी. लिट., प्रकाण्ड विद्वान, पूर्व सांसद (राज्य सभा)

**बाबूराम वर्मा, 67 बल्लुपुरा, देहरादून।

तिब्बती आचार्यों ने, जिन्होंने संस्कृत ग्रन्थों को तिब्बती या भोट भाषा में अनूदित किया, कोटि का अनुवाद *रू-नम* किया जिसका अर्थ वर्ग, किस्म या श्रेणी होता है।

तैंतीस परम श्रेष्ठ देवताओं को शतपथ ब्राह्मण 4.5.7.2 में इस प्रकार बताया गया है : 8 वसु + 11 रुद्र + 12 आदित्य + 2 स्वर्ग और पृथिवी (8 + 11 + 12 + 2 = 33)। देवता सभ्यता के प्रतीक भौतिक और तत्त्व ज्ञान के स्तरों पर मानव अस्तित्व के संक्षिप्त सार हैं।

8 वसु समृद्धि के प्रतीक हैं।

11 रुद्र अपराजेय सुरक्षा के प्रतीक हैं।

12 आदित्य ज्ञानवंत बौद्धिक अवस्था के प्रतीक और प्रकाशित करने वाले आध्यात्मिक ब्रह्मण्य के प्रतीक हैं।

2 पृथ्वी और स्वर्ग जीवन के स्थानगत आयामों के प्रतीक हैं।

33 त्रैयास्त्रिस देवता परमश्रेष्ठ या कोटि हैं क्योंकि वे इन्द्र “सर्वशक्तिमान, सबसे बलवान, सर्वोपरि शासक होने के योग्य आदि” का अभिषेक करते हैं। सभी चक्रवर्ती राजाओं में राजाओं में होने योग्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए उनका इन्द्र महाभिषेक किया जाता है। इसका विस्तार ऐतरेय ब्राह्मण के राजसूय प्रकरण में दिया गया है। देवताओं की आठ श्रेणियां इन्द्र का अभिषेक उसकी शक्ति के आठ प्रकटीकरणों के लिए करती हैं।

वसु	पूर्व	साम्राज्य	अधिशासकीयता
रुद्र	दक्षिण	भोज्य	परमतम शासन
आदित्य	पश्चिम	स्वराज्य	स्वयं शासन
विश्वदेवाः	उत्तर	वैराज्य	संप्रभुता
मारुत	स्वर्ग	पारमेष्ठ्य	सर्वोपरि अधिकार
अंगिरस	स्वर्ग	राज्य	राज शासन
सादय	पृथिवी	महाराज्य	महान राजशासन
आपृय	पृथिवी	आधिपत्य	अधिकारिता

आधुनिक राजनीतिक पारिभाषिक स्वराज्य इसी खण्ड से लिया गया है। इसे समसामयिक अर्थ 1857 के विद्रोह के उपरान्त स्वामी दयानन्द ने दिया। राष्ट्रीय जागरण का उद्घोष इसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने ‘स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है’ द्वारा बनाया। साम्प्रदायिक मतवादियों ने इसका विरोध किया, इसलिए इसे एक तरफ कर दिया गया और इसकी जगह फारसी शब्द *आजादी* अर्थात् ‘कुलीनों का शासन’ रख दिया गया। (आजाद संस्कृत शब्द *आजात* से निष्पन्न है)।

यह ईरान के श्रेष्ठवर्ग का आदर्श था। जो सबसे प्राचीन जरथुस्त की अवेस्ता के समय से पहलवी और नवफारसी तक प्रचलित होता रहा है।

शासक और उसका आधुनिक अवतार नेता को अपने सैनिक जीवन में समयातीत का उतार चढ़ाव होना चाहिए। उसे जीवन को लाभ पहुँचाने वाला सुरक्षादायी पक्ष होना चाहिए। उसे सभी के कल्याण के लिए सकारात्मक शक्तियों का स्वामी होना चाहिए। देवगण उसे ‘जीवन का भाग’ और होने का मार्ग, दोनों की शक्तियाँ देते हैं। वे ‘दूसरों की मदद करो’ की सरलता और गूढ़ता दोनों ही है। वे उस साप्ति का व्रत लेते हैं जो हृदय से निकल कर कर्म के हाथों तक पहुँचती है। त्रैयास्त्रिंशदेव मूल्यों के उदाहरण देव बनने, दिनानुदित का शासन चलाने की भंगिमा की समयातीत सुरक्षा है। इसलिए वे चरम अवस्था, कोटि या सर्वोच्च स्थिति है।

भूल-सुधार

‘चिन्तन-सृजन’ के जुलाई-सितम्बर 2009 के सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में मैंने नेपाली एवं हिन्दी भाषाओं के परस्पर संबंध की चर्चा करते हुए बीम्स के नाम का उल्लेख किया है। वस्तुतः केलाग के हिन्दी भाषा के व्याकरण (Rev. S.H. Kellogg : A Grammar of the Hindi Language, 1875) के द्वितीय संस्करण (1893) में हिन्दी की जिन 13 बोलियों का अध्ययन हुआ है उनमें केलाग ने नेपाली को भी शामिल किया है। केलाग के स्थान पर जोह्न बीम्स (John Beames : A Comparative Grammar of Modern Languages of India) के उल्लेख का हमें खेद है।

सम्पादक

वीर सावरकर और हिन्दुत्व*

सुरेश शर्मा**

इस विषय पर बोलने के पंकज जी के आग्रह को मेरे लिए टाल पाना मुश्किल था। पंकज जी से मेरा बरसों पुराना संवाद का रिश्ता रहा है: संवाद का, समझने का, एक ऐसा रिश्ता जहाँ आप एक दूसरे से सहमत न होकर भी बात कर सकते हैं। ऐसे रिश्तों की जगह अब कम होती जा रही है। मुझे आभास है कि मैं आज के व्याख्यान के विषय के साथ पर्याप्त न्याय नहीं कर सकूँगा। इसका एक कारण पिछले दिनों की मेरी भाग-दौड़ है। दूसरा कारण कहते हुए मुझे शर्म आती है, वह यह कि हिन्दी में लिखने का मुझे बहुत अभ्यास नहीं है। हालाँकि मैं उन में से हूँ जो अंग्रेजी से लगाव होने के बावजूद भी यह मानते हैं कि संसार में केवल एक ही भाषा के वर्चस्व की सम्भावना के दूरगामी और गहन परिणाम विनाशी होंगे मानव संस्कृति, मानव अस्तित्व और अस्मिता के लिए। लेकिन उस विषय पर कभी और चर्चा की जा सकती है, अभी मैं अपने कथन के विषय पर आता हूँ। भारत भवन से मेरी अनेक विशिष्ट यादें जुड़ी हैं: जगदीश स्वामीनाथन, निर्मल वर्मा और अशोक वाजपेयी की यादें। मेरी दृष्टि में भारत भवन की विशेषता यह रही है कि दिल्ली से हटकर भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का यह ऐसा पहला प्रयास रहा है, जिसकी दृष्टि और आकांक्षा नितांत समग्र और सार्विक थी। संयोग है कि वीर सावरकर पर बोलने के दो दिन पहले ही मैं पाकिस्तान में कुछ समय बिताकर आया हूँ। कायदे आजम मोहम्मद अली जिन्ना के मुस्लिम राष्ट्र के स्वप्न और उसकी हकीकत सम्बन्धी दो-चार तथ्य रेखांकित करना चाहूँगा। जिन्ना साहब का यह सपना था कि एक मुस्लिम राष्ट्र बने और उसकी अन्दरूनी संरचना और वितान में चरम किस्म का ऐक्य हो, वह कलह से मुक्त होकर प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र बन सके। लेकिन पिछले साठ बरस में जो वास्तविकता तैयार हुई है,

* यह आलेख भारत भवन, भोपाल में दिए व्याख्यान (जुलाई 2006) पर आधारित है। इसे पढ़ने लायक बनाने के लिए आभारी हूँ, उदयन वाजपेयी और संगीता गुदेचा का।

** डॉ. सुरेश शर्मा, C.S. D.S., राजपुर रोड, दिल्ली।

वह उस स्वप्न से बहुत हटकर है। आज भी उस राष्ट्र को खालिस मुसलमान बनाने की कोशिश जारी है। लेकिन वो वैसा बन नहीं पाया है, और मुझे लगता है कि वह वैसा बन भी नहीं पाएगा। आज जिन्ना के पाकिस्तान में कलह, गहरा टकराव और हिंसा पंथ एवं अंचल के आधार पर चरम घटित होती दिखती है। आधुनिक संरचना के नाम पर वहाँ सिर्फ एक संस्था बन पाई है : फौज। यहाँ मैं एक और तथ्य रेखांकित करना चाहता हूँ। वहाँ के शिक्षित मध्यवर्ग में उदार मूल्यों के प्रति सजगता, आस्था दिखाई दी, पर यह भी महसूस हुआ कि उन्हें अभिव्यक्ति का जो वितान मिला है उसमें वे इन मूल्यों की वैधता और औचित्य को अपने विमर्श में स्थापित करते समय बेबस हो उठते हैं। यह बात यहीं छोड़ दें, क्योंकि मुझे अपनी बात अगले पैतालीस-पचास मिनट में पूरी करनी है।

अपना कथन शुरू करने से पहले मैं इतिहास के बारे में दो-चार शब्द कहना चाहता हूँ। जब हम इतिहास के बारे में बात करते हैं तो हम इतिहास की उस अवधारणा को इंगित करते हैं जो पिछले दो-तीन सौ बरसों के भीतर यूरोप में प्रतिष्ठित हुई। यह इतिहास की आधुनिक कल्पना है, जिसका आधार अतीत के गहन छोर तक जाता है। इसमें प्राथमिक तत्त्व हैं : टिलॉस। इसका समानान्तर शब्द हिन्दी में खोज पाना शायद संभव नहीं, इसलिए मैं इसका कुछ विस्तार प्रस्तुत करना चाहूँगा। टिलॉस की अवधारणा मध्ययुगीन ईसाई धर्म की शास्त्रीय वहस में प्रखरता से उभरती है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रक्रिया के आरम्भ में ही उसके अन्तिम स्वरूप की सम्भावना निहित रहती है। कथित प्रक्रिया उस सम्भावना को प्राप्त कर पाए या न कर पाए, यह अलग बात है। नियत अन्त तक पहुँचने का मार्ग कठिन हो सकता है, उसका स्वरूप अकल्पनीय भी हो सकता है, परन्तु नियत अन्त की सीमा और स्वरूप उसके प्रथम चरण में ही निहित रहते हैं। इस अवधारणा का आधुनिक प्रारूप प्रगति की कल्पना में मूल और परिभाषिक है। मान्यता यह है कि इतिहास की लय और गति एवं दिशा जाने-अनजाने करीब निरन्तर हमारे समूचे अस्तित्व एवं अस्मिता को एक निश्चित दिशा में ले जाती है। पूर्व आधुनिक परिवेश में इतिहास को देखने समझने की एक और भिन्न परम्परा भी रही है। हमारे यहाँ इतिहास लेखन और विमर्श की परम्परा शायद नहीं रही है। उसके कुछ बहुत ही क्षीण एवं बिखरे प्रमाण देखने को मिलते हैं। इतिहास लेखन एवं विमर्श की जटिल एवं समग्र परम्परा चीन में रही है। उसके समकक्ष राज्यसत्ता संचालन एवं विमर्श की परम्परा भी चीन में निरन्तर रही है। इस सन्दर्भ में मैं राज्यसत्ता शब्द की जगह अंग्रेजी के 'स्टेट' शब्द का इस्तेमाल करना पसन्द करूँगा। 'स्टेट' शब्द में 'राज्यसत्ता' से कुछ अलग अर्थ भी प्रखर हैं। चीन के पारम्परिक इतिहास बोध में प्रगति जैसी कोई अवधारणा नहीं है। वह एक चक्रिल अवधारणा पर आधारित है। इतिहास काल चक्र का प्रस्थान बिन्दु अतीत में कोई स्वर्णिम युग होता है। धीरे-धीरे क्षय प्रक्रिया निरन्तर इतिहास चक्र को विघटन की

ओर ले जाती है, और उसके निम्नतम छोर से इतिहास चक्र फिर से स्वर्णिम युग की ओर लौटता है। रोम और यूनान की इतिहास लेखन-विमर्श परम्परा भी इसके बहुत करीब की थी। इस सन्दर्भ में मैं आधुनिक चीन में हुई एक बहुत ही अहम और परिभाषिक बहस का जिक्र करना जरूरी समझता हूँ। चीन के इतिहास के सन्दर्भ में इतिहासकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि जो औद्योगिक क्रांति अठारहवीं शती के अन्त में यूरोप के एक छोटे-से द्वीप इंग्लैण्ड में हुई, वह दसवीं शती के चीन में क्यों नहीं हो पाई। औद्योगिक क्रांति के इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों ने जो भी लक्षण एवं प्रस्थान बिन्दु तय किए हैं, वे दसवीं शती के चीन में भरपूर नजर आते हैं। मैंने एक बार इस पर लिखा था कि यह प्रश्न कुछ इस तरह का है कि मानो यह पूछा जा रहा हो कि यूरोप का आधुनिक इतिहास दसवीं शती के चीन में क्यों नहीं शुरू हुआ? अगर प्रश्न को आप इस तरह पेश करें, तो वह अटपटा और कुछ बेहूदा लगेगा। लेकिन अगर आप प्रगति की अवधारणा में निहित उसके सार्वभौमिक निर्णायक धरातल को मुखर करें तो बाकी सब तत्व उसके अनुषंग हो जाते हैं। बहरहाल यह सब कुछ अधिक लम्बा होता जा रहा है। एक और शब्द की मैं चर्चा करूँगा, क्योंकि उसके बिना मैं आगे की बात नहीं कह पाऊँगा। वह शब्द है, पेरार्डॉक्स। इस शब्द के लिए हमारी अपनी भाषा और दर्शन में कोई पर्याय नहीं है। पेरार्डॉक्स एक ऐसी स्थिति है जिसमें दो विपरीत तत्व निरन्तर एक ऐसे परस्पर विरोधी समीकरण में बने रहते हैं जिसमें कि उन्हें सुलझाना या उनका विलयन करना असम्भव होता है।

मेरा प्रयास है सावरकर की चिन्तन पद्धति का विश्लेषण कर पाना। मैं सावरकर का अनुयायी नहीं हूँ। मैं उनकी परम्परा का भी नहीं हूँ। उनके बलिदान, साहस और बौद्धिक प्रखरता का मैं आदर करता हूँ। शुरू में ही, वीर सावरकर और महात्मा गाँधी के नितान्त भिन्न दार्शनिक एवं बौद्धिक प्रस्थान धरातल को इंगित करना चाहूँगा। गाँधी जी को राष्ट्रीय आन्दोलन का सबसे बड़ा नेता माना गया है। गाँधी जी के विपुल लेखन में यदि हम 'राष्ट्र क्या है' पर कुछ खोजने की कोशिश करें तो वहाँ बहुत नहीं मिलेगा। वीर सावरकर को हिन्दू अस्मिता, हिन्दुत्व, हिन्दू संस्कृति का प्रखर प्रहरी माना गया है। उनका लेखन भी विपुल है, भले ही गाँधी जी जितना नहीं। उस लेखन में अगर हम 'संस्कृति क्या है' जैसे प्रश्नों के उत्तर खोजने चलें तो बहुत नहीं मिलेगा। आप इसे पेरार्डॉक्स कह सकते हैं। आधुनिक युग में 'स्व' की अस्मिता विशेषकर हिन्दू अस्मिता के संकट और उससे उपजी शंकाओं, द्वंदों पर वीर सावरकर ने जिस तर्क पद्धति से विचार किया, मैं उसे स्पष्ट करना चाहता हूँ। उस पर आने से पहले मुझे थोड़ा पीछे जाना होगा। राजा राममोहन राय का कार्यकाल वीर सावरकर से करीब अस्सी-नब्बे वर्ष पहले का है। उन्होंने ही आधुनिक काल के औपनिवेशिक दौर में पहली बार 'स्व' की अस्मिता के यथार्थ पर विचार करने का प्रयास किया।

उनके इंगित दो तत्व-प्रश्न सावरकर के समय में भी प्रासंगिक बने रहे। हम किस तरह अपने समूचे अस्तित्व को यूरोप के समकक्ष बना सकते हैं? उसकी प्रक्रिया क्या हो, उसे हम कैसे संचालित कर सकते हैं? इस बारे में आज भी बहुत बहस नहीं होती कि यह हमें करना भी चाहिए या नहीं? इसकी हमें जरूरत है भी या नहीं? यह मानकर चला जाता है कि हमें ऐसा करना ही चाहिए। यह मान्यता, चाहे राममोहन राय हों या सावरकर, में एक-सी है। इस सन्दर्भ में यदि कोई मौलिक सम्भावनानिष्ठ अपवाद है, तो मैं मानता हूँ कि वह गाँधी जी हैं। राममोहन राय के विश्लेषण के दो तत्व मैं रेखांकित करना चाहूँगा। एक तो यह कि हमारे कर्म और विश्वासों में ऐसे बहुत से तत्व आ गए हैं जिन्हें तजना जरूरी है। उनको तजने की अनिवार्यता हमारे अपने स्व और अस्मिता की रक्षा से जुड़ी हैं। इस तजने और स्व एवं अस्मिता को पुनर्प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया में एक ऐसी सार्विकता निहित है जो हमारी विराट परम्परा से आती है। उस परम्परा में राममोहन राय सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु उपनिषद् के दर्शन को मानते हैं। वे मानते हैं कि उपनिषद् के दर्शन में एक सार्विक सम्भावना निहित है। यहाँ की परम्परा और यहाँ के जीवन और अस्तित्व के लिए एक विशिष्ट सार्विक सम्भावना। लेकिन यह सम्भावना तब तक चरितार्थ नहीं हो सकती जब तक उस समय के कुछ विश्वासों, कर्मकाण्डों और सामाजिक संरचना को तजा या बदला न जाए। इस विमर्श की अगली कड़ी स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। और उनके साथ ही इस विमर्श की बनावट में एक गहरा विचलन आता है। दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद को बायबिल के समान अक्षर-पाठ की विधि में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। राममोहन राय की दृष्टि में सार्विकता सभी परम्पराओं में निहित रहती है। विभिन्न परम्पराओं में उसका अंश कम-ज्यादा हो सकता है, लेकिन सार्विकता किसी भी पंथ या किसी भी मार्ग से सम्भव है। दयानन्द सरस्वती के विश्लेषण में यह तत्व अन्तिम कसौटी के रूप में प्रायः गौण हो जाती है, जिसके आधार पर यह अन्तिम निर्णय लिया जा सके कि क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या लेने लायक है, क्या छोड़ने लायक है। दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद को बाईबल समान, अक्षर पाठ विधा में इसीलिए प्रतिष्ठित करने की जरूरत महसूस करते हैं क्योंकि आधुनिक सन्दर्भ में समाज के लिए कुछ स्पष्ट पारिभाषिक आधार होना अनिवार्य है। स्पष्ट पारिभाषिक आधार के अभाव में हिन्दू समुदाय का बच पाना लगभग असम्भव है। इस निश्चय से गहरे क्लेश और शंका उत्पन्न होते हैं। यह विकट शंका दूर तक चलती है। इस वैचारिक प्रवाह की अगली कड़ी हरदयाल हैं। हरदयाल साहब बहुत ही दिलचस्प इंसान थे। उनके विचार-बिन्दु कई बार बदले और ये बदलाव कोई छोटे-मोटे बदलाव नहीं थे। मसलन वे भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मार्क्स को ऋषि का दरजा दिया। उन्होंने 'रेड प्लेग' नाम की संस्था चलाई जिसके विचार बहुत उग्र थे। मसलन यह कि शादी-ब्याह की संस्था, ढ़कोसला है, आदि। उनकी विचार यात्रा अनेक ठिकानों से गुजरी लेकिन वे जिस

विचार बिन्दु पर जाकर ठहरे, वह यह था कि हिन्दू समुदाय को स्थिर और स्पष्ट परिभाषिक आधार देना अनिवार्य है। अगर हम यह नहीं कर पाते हैं, तो हिन्दू समुदाय बच नहीं पाएगा। हिन्दू अस्तित्व की परिभाषा की खोज उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया की ओर ले जाती है। हिन्दू की परिभाषा को राजनीतिक प्रक्रिया में खोजने का यह पहला प्रयास था। उनकी परिभाषा खोज का यह प्रयास समस्याग्रस्त है। उनका प्रयास था कुछ ऐसे विश्वासों, मान्यताओं, परिपाटियों को रेखांकित करना जो अधिकतर हिंदुओं को मान्य हों। उनकी तर्कशैली और प्रमाण-विधान के बीच गहरा अन्तराल बना रहा।

इस परिभाषा खोज और विमर्श प्रक्रिया को अन्तिम रूप सावरकर अपने हिन्दू राष्ट्र की कल्पना में देते हैं। इस अन्तिम कड़ी में जिन दो-तीन चीजों को मैं रेखांकित करना चाहता हूँ, वे ये हैं कि हिन्दू की परिभाषा कर्मकाण्ड, मत-मतान्तर और मान्यताओं की परिधि से बाहर हो। आशय यह है कि प्रचलित मत-मतान्तर, मान्यताओं और अमान्यताओं आदि का हिन्दू परिभाषा पर कोई असर नहीं होना चाहिए, उसे इनसे हटकर अलग धरातल पर ही परिभाषित किया जाना चाहिए। आधुनिक इतिहास लेखन में इस प्रयास को जो स्थान दिया जाता है और उसे जैसे विश्लेषित किया जाता है, अब मैं उसके बारे में कुछ कहूँगा। आधुनिक दृष्टि के अनुसार हिन्दू राष्ट्र की कल्पना मूलतः बीते युग के पुनर्प्रतिष्ठापन का प्रयास है। इतिहास लेखन की इस दृष्टि के अनुसार आधुनिक युग में अस्मिता का मुख्य आधार-स्रोत आर्थिक संरचना की विराट प्रक्रिया है, जिसके अर्न्तगत भिन्न समुदायों का विशिष्ट स्थान और सम्भावना नियत होती है। इस दृष्टि के प्रति मेरे मन में गहरे सन्देह हैं। उन सन्देहों के विवरण से पहले मैं एक दृष्टान्त प्रस्तुत करना चाहूँगा। विभाजन के बाद पाकिस्तान के सिर्फ दो प्रान्तों में हिन्दू अच्छी संख्या में रह पाए। उन दोनों प्रान्तों को बेहद पिछड़े अंचलों में गिना जाता है। वे ऐसे प्रदेश भी हैं जहाँ आधुनिक राज्यसत्ता और आधुनिक प्रक्रियाओं की पहुँच क्षीण रही है। ये दो राज्य हैं सिन्ध और बलूचिस्तान। पाकिस्तान में हिन्दुओं के लिए आधुनिक प्रक्रियाओं और राज्यसत्ता के केन्द्र पंजाब में रहना सम्भव नहीं हो पाया।

सावरकर की दृष्टि विमर्श में आधुनिक युग की दिशा को पलटना न सम्भव है, न उचित। आधुनिकता के विरोध को वे आत्मघाती मानते थे। यहाँ वे गाँधी जी से घोर असहमत थे। सावरकर का मानना था कि विज्ञान और टेक्नालॉजी के प्रति गाँधी जी का रुख भारत में अज्ञान और गरीबी को ही प्रश्रय देगा। सावरकर की दृष्टि में अतीत, भविष्य निर्माण का महज स्रोत भर है। उसमें स्वतः यह सामर्थ्य नहीं कि वह आधुनिक युग के प्रवाह और उसमें निहित सम्भावनाओं के समानान्तर टिक सके। उनका विश्वास था कि जीवित रहने का संघर्ष ही ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रमुख संचालक है। लन्दन में सावरकर की शामजी कृष्णा वर्मा से मुलाकातें हुईं और वे उनके निकटतम सहयोगी माने जाने लगे। शामजी वर्मा संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष के रचयिता

सर मोनियर विलियम्स के सहायक बन इंग्लैण्ड गए थे। 1906-1907 में उनके गाँधी जी से भी निकट के रिश्ते थे। वे हर्बर्ट स्पेन्सर के अनन्य भक्त थे। यह प्रसिद्ध कथन जिसे साधारणतः चार्ल्स डार्विन से जोड़कर देखा जाता है, दरअसल हर्बर्ट स्पेन्सर का है; 'सरवाईवल ऑफ दि फिटेस्ट', अर्थात्, सक्षम ही जीवित रह पाता है। इस कथन में सक्षमता और उत्तरजीविता एक-दूसरे से अभिन्न हैं। इस दृष्टि के अनुसार सक्षमता ही प्रगति और सभ्यता को गति देने वाला सृजन तत्व हैं। भारत में आधुनिकता का प्रवेश औपनिवेशिक राज के सहारे हो पाया। औपनिवेशिक तन्त्र के प्रति मैं तीन दृष्टियों को आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ। पहली दृष्टि, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की है। वे भारत के नवजागरण प्रयास में अंग्रेजी शासन को सभ्यता विस्तार का अभिन्न माध्यम मानते हैं। दूसरे, कार्ल मार्क्स, जिन्होंने भले ही भारत में अंग्रेजी राज को भला-बुरा कहा हो, वे उसे इतिहास का परोक्ष औजार करार करने से नहीं चूके। उनका मानना था कि उपनिवेशी राज में दमन है, शोषण है, लूट है, अन्याय है, पर वह फिर भी इतिहास का परोक्ष औजार है। तीसरे, सावरकर। वे मानते हैं कि अंग्रेजी राज ने हिन्दुओं को हिन्दू राष्ट्र बनाने का एक स्वर्णिम अवसर दिया है। यह 1920 के बाद की उनकी मान्यता है। वे मानते हैं कि इस राज में शोषण है, दमन है, और ये सब कुछ इसका अभिन्न अंग है, पर इतिहास की प्रक्रिया मूलतः प्रगति की ओर है। इस सन्दर्भ में वे मार्क्स के बेहद करीब नजर आते हैं। सावरकर के अपने जीवन में धर्म और कर्मकाण्ड का स्थान बहुत कम, बल्कि नहीं के बराबर रहा। जब वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे, एक महिला उनके अपने पत्नी का अन्तिम संस्कार न करने के निर्णय के विरुद्ध धरने पर बैठी। सावरकर को इससे कोई विशेष परेशानी नहीं हुई। इसी तरह जिन्ना साहब के जीवन में भी कर्मकाण्ड और मजहब का कोई बहुत स्थान नहीं रहा। वे मुश्किल से ही नमाज पढ़ पाते थे। इससे जुड़ा एक दिलचस्प किस्सा है। वे पाकिस्तान बनाने के पक्ष में भाषण दे रहे थे, नमाज की अजान हुई, सारे लोग नमाज पढ़ने लगे। जिन्ना साहब अलग बैठकर सिगार पीते रहे। जब नमाज हो चुकी, उन्होंने अपना भाषण जहाँ से उसे छोड़ा था वहीं से शुरू कर दिया। अम्बेडकर साहब ने भी बौद्ध धर्म जरूर अपनाया लेकिन उस धर्म के दर्शन से उनका कोई गहरा सरोकार हो, ऐसा मुझे कभी नहीं लगा। ये तीनों हस्तियां खुद को न सिर्फ आधुनिक धरातल पर पाती हैं, बल्कि उसी धरातल पर खुद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी करती हैं। मैं यह सब इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि इसका सावरकर से गहरा सम्बन्ध है। सावरकर के जीवन में दो भिन्न चरण स्पष्ट नजर आते हैं। एक अण्डमान से पहले, और दूसरा अण्डमान के बाद का। मेरा कहना यह है कि उनकी चिन्तन प्रक्रिया जो पहले चरण में थी वही बाद में रही, उसमें कोई फर्क नहीं आया, लेकिन उनके तर्क के निष्कर्ष उन्हें दो विपरीत दिशाओं में ले गए। यही चिन्तन प्रक्रिया उन्हें एक विस्तृत विशाल धरातल से जोड़ती है।

आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में अक्सर ऐसा अंकित किया जाता है कि

अण्डमान के बाद सावरकर हिन्दू राष्ट्र के हिमायती हुए और साथ ही वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भी समर्थन करने लगे। मान्यता यह है कि इन दोनों चीजों का तार्किक सम्बन्ध है। माना जाता है कि सावरकर की आधुनिकता की समझ बेहद सीमित और सतही थी। इस वजह से वे उसका सार्थक परिमार्जन नहीं कर सके। यह बात मुझे जँचती नहीं। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण देना चाहूँगा। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान जिन शक्तियों, समूहों और व्यक्तियों ने अंग्रेजी राज्य का साथ दिया उसकी फेहरिस्त बेहद लम्बी है, और बेहद दिलचस्प भी। उसमें अम्बेडकर साहब हैं, रामस्वामी पेरियार हैं, हिन्दू महासभा है, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ है, मुस्लिम लीग है, कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया है, एम.एन. राय हैं, और भारत के राजा-महाराजा भी इसमें शामिल हैं। यह बहुत लम्बी फेहरिस्त है। इसके ऐसा होने का कोई गहरा कारण जरूर रहा होगा। इतनी विपरीत अस्मिताएँ इतने विपरीत सामाजिक तत्व, 1942 में अंग्रेजी राज के सबसे गहरे संकट के समय अपने को उसका हिमायती घोषित करने को तत्पर हैं। ऐसा क्यों हुआ? मेरा सोचना है कि ये सभी व्यक्ति, या समूह भारत के किसी एक तत्व या अंश के ही भविष्य के विषय में चिन्तित थे। इनमें से किसी में भी वह हिम्मत या आकांक्षा नहीं थी कि वे भारत की समग्रता को व्यक्त करें। इस सन्दर्भ में सावरकर के बारे में मैं यह कहूँगा कि उन्होंने अन्त तक यह कबूल किया कि भारतीय राष्ट्र की कल्पना हिन्दू राष्ट्र की कल्पना से ऊँचे धरातल पर है परन्तु उनका विश्वास था कि उस कल्पना को ऐतिहासिक यथार्थ बना पाना सम्भव नहीं है, और जो चीज ऐतिहासिक रूप से सम्भव न हो, उसे त्याग देना ही उचित है, उसके पीछे दौड़ना मूर्खता है।

सन् 1909 में दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। वीर सावरकर की लिखी '1857 का स्वतंत्रता संग्राम' पुस्तक और गाँधी जी लिखित 'हिन्द स्वराज'। इन दोनों पुस्तकों की जो गति हुई, वह दिलचस्प है। दोनों पुस्तकों पर अंग्रेजी सरकार ने पाबन्दी लगाई। वीर सावरकर की पुस्तक के बीसियों संस्करण निकले, अधिकांश हिन्दुस्तान से बाहर। वे बड़े मुश्किल हालात में छपे, पर छपते रहे। गाँधीजी की 'हिन्द स्वराज' का दूसरा संस्करण 1938 में छपा था। यह इसके बावजूद कि गाँधीजी भारत के सार्वजनिक जीवन के केन्द्र में थे, राष्ट्रीय आन्दोलन के शिखर के नेता थे। गाँधीजी के गुरु गोखले और उत्तराधिकारी जवाहर लाल नेहरू की 'हिन्द स्वराज' के प्रति गहरी उदासीनता थी। नेहरू तो यहाँ तक कहते हैं कि 'यह आपका सपना है, इस पर कांग्रेस ने न तो कभी बहस की और न ही यह बहस करने लायक है।' लेकिन सावरकर के '1857' को राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रायः सभी धाराएँ तेजी से अपनाती हैं यह अपने आप में आश्चर्य की बात है। यहाँ यह गौर करें कि सावरकर से पहले किसी हिन्दुस्तानी की यह कहने की हिम्मत नहीं थी कि 1857 में जो भी हुआ, वह एक ऐसा प्रयास था जो हर गुलाम करने को बाध्य होता है। यह बात तब तक सिर्फ छुपकर कही जाती थी,

मुखर रूप से जो कहा जाता था, उसकी एक मिसाल ये है कि, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के करीब हर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित होता था : 'आर्म्स एक्ट' को हटा दिया जाए। इसने भारत को नपुंसक बना दिया है, वगैरह। लेकिन 1857 पर कोई सीधे-सीधे बात नहीं करता था। सर सैयद अहमद ने '1857' पर लिखा, पर वह बिलकुल अलग दृष्टि से लिखा गया। उन्होंने लिखा कि भारत पर राज्य करने की कुछ अनिवार्यताएँ हैं जो अंग्रेज नहीं समझते। सर सैयद का दावा था कि वे इन अनिवार्यताओं को अच्छी तरह से समझा सकते हैं। इतिहास लेखन विमर्श का यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि 1909 तक '1857' पर करीब हर साल किसी अंग्रेज अफसर या इतिहासकार लिखित कोई न कोई ग्रन्थ प्रकाशित होता रहता था। 1909 और 1947 के तीस बरस के अन्तराल में लिखा 1857 पर कोई ग्रन्थ अंग्रेजों द्वारा प्रकाशित नहीं होता। इस सन्दर्भ में सावरकर का '1857' इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप साबित हुआ। वीर सावरकर के '1857' में दो-तीन चीजें बेहद महत्त्व की हैं। सावरकर कहते हैं कि 1857 इस बात का प्रमाण है कि भारत में यह सम्भावना निश्चित है कि सभी हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र, एकजुट होकर एक लक्ष्य के लिए सक्रिय हो सकते हैं। दूसरा, वे ये कहते हैं कि रणभूमि की एकता का महत्त्व सामाजिक संरचना को देखकर ही लगाया जा सकता है। इतिहास की कल्पना में यह बात काबिले-गौर है कि रणभूमि में जो स्तर, पराक्रम, संगठन और एकनिष्ठता नजर आती है, वह एक तरह से सामाजिक संरचना का ही एक विशेष सन्दर्भ में परिमार्जित रूप है। '1857' की विफलता को भी वे इसी तर्क से समझाने की कोशिश करते हैं। सावरकर का अन्तिम निष्कर्ष था कि '1857' में बाकी सब कुछ था, अलावा भविष्य की एक नई वैकल्पिक धारणा के। '1857' के विद्रोह में जो धारणा निहित थी, वह अतीत की ओर ले जाती थी : वही मुगल, वही मराठा, वही हिन्दू, वही शूद्र और वही अन्दरूनी दमन। ऐसे में उसकी विफलता आश्चर्यजनक नहीं थी।

सावरकर के जिस दूसरे ग्रन्थ का मैं विशेष उल्लेख करना चाहता हूँ वह है, 'कालापानी'। '1857' और 'कालापानी' के बीच उनके दो और ग्रन्थ प्रकाशित हुए, 'मोपला' और 'ऊषाप' जिनके केन्द्र में है हिन्दू सामज की अपनों के प्रति निर्मम क्रूरता। खास तौर पर हिन्दू समाज दलितों और असहायों आदि के प्रति बहुत ही क्रूर रहा है। यह बात सावरकर बहुत आवेग से कहते हैं। 'ऊषाप' में वे कुछ और भी कहते हैं। उसमें एक चरित्र है, सत्यकाम, जो हमेशा सत्य की बात करता है लेकिन वह दमनकारी के साथ समझौता करता है। यह कह पाना असम्भव है कि सत्यकाम का चरित्र गाँधी जी को इंगित नहीं करता। उस उपन्यास में सबसे घटिया चरित्र यदि कोई है, तो वह निश्चित ही सत्यकाम है। 'कालापानी' का जिक्र करने से पहले मैं यह कह दूँ कि जब सावरकर उसे लिख रहे थे, उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर रोक थी। साथ ही वे यह मानते थे कि उपन्यास लेखन अस्मिता-विमर्श का एक ऐसा सहज

साधन है जिसका यदि सही और सक्षम राजनीतिक उपयोग किया जाए तो, उसका परिणाम गहरा एवं दूरगामी हो सकता है। 'कालापानी' और 'मोपला' व 'ऊषाप' जैसे ग्रन्थों के बीच यह फर्क है कि 'मोपला' आदि ग्रन्थों के केन्द्र में है तत्कालीन हिन्दू समाज। 'कालापानी' उनकी आपबीती जैसा कुछ है, यह आत्मकथात्मक कृति है। इसमें जो दो-तीन तत्व मुझे महत्त्वपूर्ण लगते हैं उनकी मैं चर्चा करूँगा। 'कालापानी' में अण्डमान ऐसे भूगोल का रूपक है जहाँ कोई इतिहास नहीं है, जहाँ इतिहास अभी बनना है। वह एक ऐसा वितान है जिस पर बिना किसी अतीत के बोझ के इतिहास लिखा रचा जा सकता है। सावरकर हिन्दू अतीत के बोझ से बेहद संतप्त हैं। उनके चिन्तन में निर्णायक प्रश्न है कि इस अतीत के बोझ से मुक्ति कैसे मिले। यह भारत का एक ऐसा स्थान है जहाँ अतीत, जीवित परम्परा न होकर महज स्मृति है। यहाँ अतीत को एक शुद्ध स्मृति के रूप में क्रियान्वित करने का प्रयास सम्भव और करने लायक है। उनकी आस्था है कि यहाँ अतीत के बोझ से मुक्त सृजन हो सकेगा। ऐसी ऐतिहासिक भूमि ही पुण्यभूमि है। हिन्दू राष्ट्र की सावरकर की परिभाषा दो धुरी पर है; जन्मभूमि-पितृभूमि और पुण्य भूमि। 'कालापानी' उपन्यास के अण्डमान में कर्मभूमि ही पुण्यभूमि बनती है। मुझे लगता है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ कर्मभूमि, पुण्यभूमि इसलिए बन पाती है क्योंकि वह अतीत के बोझ से पूरी तरह मुक्त है। विलकुल शुद्ध स्मृति के आधार पर भविष्य का निर्माण हो सकता है। इस उपन्यास में उनकी अपनी आवाज 1857 के विद्रोह की सजा पाने अण्डमान भेजे गए अप्पाजी नाम के चरित्र में मुखरित होती है। उनका परिवार वहाँ एक खालिस 'हिन्दू जनपद' बना रहा है। इसमें जितने मुसलमान चरित्र हैं, वे झूठ बोलने वाले असीम हिंसा के प्रतीक हैं : फरेबी और अत्याचारी। इन सबका अपवाद महाराष्ट्र के मुसलमान हैं। उनके प्रति एक दूसरी तरह की भाषा और लय का प्रयोग है। वे इस तरह पेश होते हैं कि दूसरे मुसलमान उन्हें 'आधा हिन्दू मानते' हैं। मैंने शुरू में ही कहा था कि पाकिस्तान में 'खालिस मुसलमान' बनाने का प्रयास तेजी से जारी है पर अभी तक वे खालिस मुसलमान बना नहीं पाए हैं। वे कुछ अंश में ही खालिस बन पाते हैं, पूरे नहीं।

मैं दो उद्धरण देकर अपनी बात समाप्त करता हूँ। गाँधी और सावरकर के बीच सार्वजनिक मंच से एक ही बार संवाद हुआ। यह 1909 में विजयादशमी के दिन लंदन में हुआ। विजय दशमी का समारोह निजामुद्दीन रेस्त्रां में किया गया। दोनों के कथन राम के जीवन और आदर्श के बारे में थे; वनवास, बलिदान और त्याग के बारे में। सावरकर के लिए हिन्दू परम्परा की संरचना के सीमांकन में निहित गहन धुँधलापन हमेशा क्लेश का स्रोत रहा। उनके अनुसार स्पष्ट रेखाओं का अभाव हिन्दू अस्तित्व को नष्ट कर देगा। अगर इसे बचाना है तो ये रेखाएँ स्पष्ट और उग्र करनी होंगी। गाँधीजी की दृष्टि में इस परम्परा और सभ्यता के सीमांकन में निहित तरलता और धुँधलापन ही 'स्व' की समग्र सम्भावनाओं का स्रोत है। गाँधीजी का विश्वास था कि

इसी स्रोत से दमन, अन्याय और हिंसा के प्रतिकार की ऊर्जा मिलती है। मुझे लगता है कि यही एक कारण था कि गाँधीजी अन्त तक सावरकर की बात बलिदान और बलिदान के प्रति आस्था की अमिट कड़ी के रूप में करते थे। गाँधी के लिए ऐसा कह पाना किसी और धरातल से सम्भव नहीं था। अब उद्धरण देता हूँ। पहला उद्धरण सावरकर के 'इसेन्शियल्स ऑफ हिन्दुत्व' से :

यदि कभी हिन्दू ऐसी स्थिति में हों जहाँ से वे समस्त विश्व पर शर्तें लागू कर सकें वे उन शर्तों से बहुत अलग नहीं हो सकतीं जो गीता में अंकित हैं, या जो बुद्ध ने निश्चित कीं। हिन्दू नितान्त हिन्दू होता है, जब वह हिन्दू नहीं रहता और शंकर के साथ एक स्वर हो समस्त पृथ्वी को बनारस घोषित करता है ('वाराणसी मेदानी!') या तुकाराम के साथ उद्घोष करता है, 'मेरे देश बंधुओं, समस्त विश्व के सीमांत, वहीं सीमाएँ मेरे देश की।'

विनायक दामोदर सावरकर
'इसेन्शियल्स ऑफ हिन्दुत्व'

Whenever the Hindus come to hold such a position whence, They could dictate terms to the whole world-those terms can not be very different from the terms which Gita dicates or the Buddha lays down. A Hindu is most intensely so, when he ceases to be a Hindu; and with Shankara exclaims the whole earth for a Benaras, 'Veranasi Medani!' or with a Tukaram exclaims, 'Amuche Swadesh! Bhuvanrya madhyare Vas! My Country! oh! Brothers. The limits of the universe-there the frontiers of my country lie!

V. D. Savarkar
'Essentials of Hindutva.'

दूसरा उद्धरण गाँधी जी का है :

'जैसे गलत जगह रखी वस्तु गन्दगी बन जाती है, तर्क का दुरुपयोग पागलपन बन जाता है।'

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी
'यंग इंडिया', 14 अक्टूबर 1926

स्वाध्याय आन्दोलन : डायरी के पृष्ठों से

रमेश चन्द्र शाह*

भोपाल, 1 फरवरी, 1997

सूरजकुण्ड। 'स्वाध्याय' आन्दोलन के प्रवर्तक पांडुरंग शास्त्री आठवले ('दादा') के साथ तीन दिन। कितने सारे नए-पुराने साथी इस निमित्त से जुटे! श्री गोपालकृष्ण, जीत ओबरॉय, मकरंद परांजपे, मौलाना वहीदुदीन, रिनपोछेजी, पं. विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा, गगन गिल, किशोर संत, राजीव वोरा। (मेरे पुराने मित्र, इस जमघट के संयोजक, शास्त्रीजी के दाहिने हाथ) महेश भाई, दशरथ भाई (शास्त्रीजी के गुजराती सहयोगी, जिनसे सौराष्ट्र यात्रा के दौरान घनिष्ठता हो गई थी।), CSDS के धीरूभाई सेठ, दयाकृष्ण-फ्रैन्सीन, नंदकिशोर आचार्य... और ...और भी कुछ बुद्धिजीवी जिनका नाम भूल रहा हूँ इस वक्त।

कैसा रहा यह त्रिदिवसीय 'विचार-यज्ञ' (स्वयं दादा पांडुरंग शास्त्री की शब्दावली में)? क्या इसमें ऐसा कुछ देखा-सुना जो 'स्वाध्याय' के ही पिछले आयोजनों में नहीं देखा-सुना था?

सूरजकुण्ड में पहली बार गया था। यथा नाम तथा गुण। पहली छाप ही मंत्रमुग्ध कर देने वाली। क्या सोचकर इस आयोजन के लिए यह स्थल चुना गया होगा! सोचा हो, न सोचा हो किसी ने मुझे पश्चदृष्टि से यही लग रहा है कि इससे अधिक सुंदर और उपयुक्त स्थल हो ही नहीं सकता था उत्तर भारत में ऐसे विचार-यज्ञ के लिए।

गोलाकार कुण्ड के चतुर्दिक जिस तरह संकेन्द्रिक वृत्तों में सीढ़ियाँ लगातार पीछे को हटती-फैलती और ऊपर को उठतीं चली गई हैं देखते ही कैसी सौन्दर्यानुभूति मन में उपजाती हैं। वह जो अंकित है वहीं कहींकि उगते हुए सूरज का प्रभाव उत्पन्न करना इस कुण्ड के निर्माण का उद्देश्य था, तो वैसा अक्षरशः हुआ है। बिलकुल-बिलकुल

*एम-4, निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

वैसा ही प्रभाव मन पर पड़ता है दर्शक के। मैं अपनी कहूँ तो मैंने ऐसा अनुभवठीक यही अनुभवपहली बार जीवन में यहीं किया। सोच ही नहीं सकता था मैं इसके बारे में कभी, कि ऐसा भी संभव है।

अपने आपमें इस कदर सादा और फिर भी इस कदर मन को उत्फुल्ल कर देने वाला स्थापत्य! क्षितिज में उगता हुआ सूरज मानो धरती के भीतर से उगते और दसो दिशाओं में विकीर्ण होते सूरज में बदल गया हो! जल, मिट्टी और पत्थर में उस आकाशीय विभूति का अवतरण! धरती के गर्भ से उगता सूरज! सूरजकुण्ड!

आगे एक सुन्दर द्वार। केरलीय शैली में केरल के ही किसी वास्तुविद् द्वारा निर्मित। सुना, किसी 'आधुनिक' मेले के आयोजन के अवसर पर बनाया गया था इसे।

होटल 'हंसराज' पंचतारा होटल हैसभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त, आलीशान इमारत।

पर पहली जो बात मन में आई, वह यही, कि क्या ये लोग मितव्यय से काम नहीं ले सकते थे? स्वाध्याय आन्दोलन तो जैसा आठवले कहते रहे हैं (गाँधीजी की ही तर्ज पर जाने-अनजाने) कतार में सबसे पीछे खड़े आखिरी आदमी से तादात्म्य स्थापित करने का सबसे दबे-पिछड़े लोगों को ऊपर उठाने का आन्दोलन है। तो फिर उसके कार्य का प्रभाव और सम्भावनाओं का आकलन करने के लिए जुटाए गए समाज के अन्तःकरण सरीखे समझे जाने वाले इन बुद्धिजीवियों को ही 'वी.आई.पी. ट्रीटमेंट' देने की क्या जरूरत है?

कितने शान्त और प्रचार-निरपेक्ष, स्वतःस्फूर्त ढंग से यह आन्दोलन निहायत सादी भक्ति-फेरियों से शुरू हुआ था और किस तरह इसने देखते-देखते एक महाप्रवाह का रूप धारण कर लिया था! तो, उसी के मेल में इसकी शामिल प्रगति का हर सोपान भी नहीं होना चाहिए? बुद्धिजीवियों को भी इसमें बुलाने-शामिल करने और उनका बौद्धिक सहयोग जुटाने की सूझ तो बहुत ही जबरदस्त थी जो इस आन्दोलन को दूसरे संगठनों से एक अलग धरातल पर प्रतिष्ठित करने का एक निराला और फिर भी सर्वथा स्वाभाविक और समुचित उपक्रम लगा था मुझे। बुद्धिजीवी कहलाने की पात्रता रखने वाले समाज के सबसे समझदार और पढ़े-लिखे सदस्यों की भूमिका हमारे यहाँ संदिग्ध ही रही है : एक अपाट्य सी खाई दीखती रही है उनके और देश की सामान्य जनता के बीच। किन्तु उनकी उपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। उनका दायित्व-बोध अनेकानेक कारणों से (औपनिवेशिक मानसिकता तथा पश्चिमाभिमुख परोपजीवी बुद्धि इत्यादि ...) चाहे जितना क्षीण जान पड़ता हो, प्रभाव तो उनका पड़ता ही है सभी क्षेत्रों में। श्रेष्ठजन हैं वे गीता के मुहावरे के; और स्वयं गीता के मुताबिक भी 'वे जैसा आचरण करते हैं श्रेष्ठजन उन्हीं का अनुकरण करते हैं' तो, किसी भी लोकोन्मुख, लोक-कल्याणकारी गतिविधि में उनकी बुद्धिमता और प्रभावशीलता का सहयोग

आवश्यक तो है ही। ऐसे किसी भी आन्दोलन या संगठित कार्य की देश के बुद्धिजीवियों के बीच भी साख तो बननी ही चाहिए। इस दृष्टि से आठवले जी और उनके पट्टशिष्यों की यह सूझ-बूझ मुझे हर तरह से सराहनीय लगी थी। ऐसा नहीं है कि देश में कोई संस्था, कोई संगठन लोक-कल्याण के लिए सक्रिय नहीं। ढेरों हैं; पर उनमें एक स्पष्ट और अनर्थकारी विभाजन देखा जा सकता है। एक ओर वे संगठन हैं, जो स्वावलंबी नहीं हैं; विदेशी अनुदान पर और परोपजीवी विचारों-पद्धतियों पर पलते-पुसते हैं। और इस तरह जाने-अनजाने मिशनरी गतिविधियों की तर्ज पर ही समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ने का काम कर रहे हैं। और; दूसरी ओर वे संगठन हैं, जिनकी देश-निष्ठा देश और विदेश दोनों की बुद्धि संपदा से अछूती और निरपेक्ष, आत्म-भ्रामक, आत्मतुष्ट और अनालोचकीय ढंग से सक्रिय है। और इसी कारण स्वतः सदिग्ध और बहिष्कृत हो जाती है, बुद्धिजीवियों के घेरे से। स्वाध्याय आन्दोलन इस मानी में काफी अलग और तेजस्वी लगा था कि इसके प्रवर्तक स्वयं भी 'बुद्धिप्रामाण्य' को सर्वाधिक महत्त्व देते रहे हैं और आरम्भ से ही उन्हें बुद्धिशाली लोगों का सहयोग भी मिलता रहा है। तीसरे, देश के सभी क्षेत्रों के बौद्धिकों को तभी विशेष रूप से 'स्वाध्याय' की कार्यपद्धतियों और उपलब्धियों को स्वयं अपनी आँखों से देखने-विचारने को आमंत्रित किया गया, जब सचमुच ही आन्दोलन ने अपनी जड़ें पकड़ ली थीं और उसके ठोस परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे थे। मैंने स्वयं एकाधिक बार इस उद्योग-पर्व की उपलब्धियों का साक्षात्-दर्शन किया है। इतना ही नहीं, देश के अनेक प्रतिष्ठित और जानी-मानी हस्तियों को उससे संतुष्ट प्रभावितयहाँ तक कि चमत्कृत होते भी देखा है।

गोष्ठी का आरम्भ मौलाना वहीदुद्दीन के वक्तव्य से हुआ। बमुश्किल वे बोलने को राजी हुए। "मेरी बातें" ...उन्होंने कहा "पसन्द नहीं आएँगी आप लोगों को। मेरी स्पष्टवादिता...। अब जैसे महात्मा गाँधी के प्रति बहुत मेरे मन में सम्मान है। पर मैं उनकी आलोचना किए बगैर नहीं रह सकता। मसलन, राष्ट्रीय आन्दोलन को यूनिवर्सिटियों तक के भीतर ले जाने की उनकी जिद। इससे बहुत गलत नींव पड़ी। यूनिवर्सिटी, कॉलेज, स्कूल ये सब एक 'ट्रैडिशन' होती है, उससे चलते हैं। ट्रैडिशन जरूरी है (उनका आशय सम्भवतः 'डिसिप्लिन' से भी रहा होगा) और उसे पॉलिटिक्स से बचा के रखना चाहिए। मालवीयजी ने तो गाँधीजी को साफ तौर पर यही सलाह दी थी कि इसमें आप छात्रों को मत घसीटिए। मगर गाँधीजी नहीं माने। और इसका नतीजा अच्छा नहीं हुआ। तो एक गलती तो गाँधीजी की यही थी शिक्षा-संस्थानों में राजनीतिक पार्टियों की घुस-पैठ के बीज बो देना। दूसरी गलती को बहुत स्पष्ट नहीं किया मौलाना ने। मगर कुछ ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वे कहना चाह रहे होंधर्म और राजनीति के गठबन्धन की शुरुआत भी गाँधीजी ने ही कीजिसका भी नतीजा अच्छा नहीं हुआ।

मौलाना ने अपने व्यक्तिगत जीवन की एक घटना का जिक्र किया कि किस तरह उनके बड़े भाई साहब ने बी.एच.यू. से इंजीनियरिंग की परीक्षा पास की और एक महत्त्वपूर्ण पद के लिए इंटरव्यू दिया तो प्रोफेसर गैरोला (?) ने उन्हीं का पक्ष लिया और उन्हीं को चुना। तो इस मुल्क में किसी के साथ मुस्लिम होने के कारण कोई भेद-भाव बरता जाता है यह बात सरासर झूठ है। मगर यह झूठ हिन्दुस्तानी मुसलमानों के मन में कुछ मुस्लिम नेताओं ने जहर की तरह भर दिया है। इसी का नतीजा था पाकिस्तान।

मौलाना में कुछ बात तो है जो उन्हें दूसरे अपने समानधर्मियों से अलग करते हैं। पर एक बात जो मुझे परेशान करती रही है, वह संयोग देखोइन्हीं से जुड़ी है। कई बरस हुए मेरी एम.ए. फाइनल की क्लास में एक लड़का था, जो हर माह मुझे एक पत्रिका लाकर देता था 'अल रिसाला'। उसके संपादक यही मौलाना वहीदुद्दीन थेजहाँ तक मुझे याद है। वह पत्रिका मैं पढ़ ले जाता थाउसकी सामग्री मुझे रुचिकर लगती थी। खासकर उसके संपादकीय। किन्तु एक बार इसी सम्पादकीय को लेकर मैं बड़ी उलझन में पड़ गया था। उसमें किसी जेहादी प्रसंग की चर्चा थी और मजहबी जोश में अपनी जान देने वाले के 'साहस' की सराहना कुछ इतने आविष्ट और आत्मतुष्ट स्वर में की गई थी कि जैसे वही चरम और प्रश्नातीत मूल्य हो; उसके आगे-पीछे कुछ सोचने-विचारने की जरूरत ही न हो। साधन और साध्य की एकता अथवा साधनों की शुद्धता का तो विचार ही मानो अप्रासंगिक हो। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने अपनी उद्विग्नता से ही प्रेरित होकर सम्पादक को एक पत्र भी लिखा था। पर उसका कोई उत्तर नहीं मिला था। खैर... यह प्रकरण यहीं तक।

मौलाना ने और क्या कहा? उन्होंने कहा "जहाँ तक स्वाध्याय के विशुद्ध 'सोशल ऐस्पैक्ट' (उन्हीं के शब्द) का सवाल है, वह तो बढ़िया है। उससे मुसलमानों को आप बेशक अपने साथ जोड़ सकते हैं। मगर मुसलमानों को अपने साथ जोड़ने की बात का क्या मतलब है, इसे भी आप ठीक-ठीक समझ लें। आप 'इन ड्वैलिंग' गॉड की (अन्तर्वासी या अन्तर्यामी) की बात करते हैं, जो इस्लाम के मुताबिक 'कुफ्र' है। सारी दुनिया के मुल्ला एक स्वर में कहेंगे 'यह हराम है।' और, कोई भी मुसलमान इस फतवे को नहीं लांघ सकता। यह असंभव आकांक्षा आप न पालें। आपके आठवले साहब God is within you भी कहते हैं और 'विद यू' भी कहते हैं। With you तक तो मुसलमान आपके साथ जा सकता है; मगर 'विदिन यू' कहते ही वह बिदक जाएगा।"

तब फिर?... याद आता है, दूसरे दिन के सत्र में किशोर सन्त नामक 'सोशल ऐक्टिविस्ट' के तर्क के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए गोपालकृष्ण ने कहा था "भगवान न करे, 'स्वाध्याय आन्दोलन' की जो मूल प्रेरणा हैजिस अन्तर्ज्ञान (इंट्यूशन शब्द का प्रयोग किया था उन्होंने) के बूते यह विचार एक सामाजिक

परिवर्तन के साधन में परिणत हुआ वह मूल प्रेरणा ही कुछ बुद्धिजीवियोंसोशल ऐक्टिविस्टोंके दबाव में आकर भुला देनी पड़े या उससे विचलित होना पड़ेइससे अधिक अनर्गल बात और कुछ नहीं हो सकती। वह अंतरात्मा की आवाज की बात थीअन्तर्ध्वनित सत्य कीउसके साथ किसी तरह का समझौता हमें कबूल नहीं।”

फिर, आखिरी दिन बहुत संक्षिप्त हस्तक्षेप करते हुए निर्मल वर्मा ने एक बड़ी मुद्दे की बात कही कि “सबसे पहले तो हमें यही देखना चाहिए कि कहीं हम इस निरर्थक मानसिक ग्रन्थि से तो पीड़ित और प्रेरित नहीं हो रहे हैं कि कहीं हमें ‘हिन्दू’ या हिन्दुत्ववादी न समझ लिया जाए। आखिर ऐसा क्यों है कि किसी भी अन्य धर्मावलम्बी समाज के बुद्धिजीवियों को तो ऐसी चिन्ता नहीं सताती; मगर एक हिन्दू समाज के बुद्धिजीवी को ही यह चिन्ता सताती है? हम इस अतिरिक्त स्व-चेतना से, खामखा ओढ़ी हुई ग्रन्थि से मुक्त होकर क्यों नहीं सोच या बरत पाते?”

बात सही थीइसीलिए कुछ क्षण एक चुप्पी छाई रही। न तो पक्ष, में न विरोध में कोई आवाज उठी। यदि आठवले जी ठेठ हिन्दू आचार-विचार में मनसा-वाचा-कर्मणा दीक्षित होने के फलस्वरूप सामाजिक समस्याओं के प्रति अपने सहज पारम्परिक ज्ञान के धरातल पर संवेदित होते हैं और उसी की प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो इसमें परेशानी की क्या बात है? उसे सहज स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर क्यों नहीं चला जा सकता? क्यों ‘स्वाध्याय’ की जीवित-जागृत प्रेरणा और प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ से परिचालित लोगों को इस बारे में ‘अपोलोजेटिक’ होना या दीखना चाहिए और फालतू स्पष्टीकरण देने की जरूरत महसूस करनी चाहिए?

नन्दकिशोर आचार्य तथा और भी कुछ लोगों ने कहा कि यहाँ हमारे जैसे कई सारे लोग हैं जो ‘स्वाध्यायी’ नहीं हैं। इस आन्दोलन के अंग या उससे प्रतिबद्ध भी उस तरह नहीं हैं। इसकी उपलब्धियों से, यानी प्रयोग-दर्शन से विस्मित और उल्लसित जरूर हुए हैं। किन्तु ‘स्वाध्याय’ को आखिर वर्तमान राजनीति के प्रति, आर्थिक विचारधाराओं को लेकर कुछ तो ‘स्टैण्ड’ लेना होगा। आप पहले उसे परिभाषित करें तो बात आगे बढ़े।

यहाँ से बातचीत ने अलग मोड़ लिया। काफी उलझनें उपजीं और उन्हें सुलझाने के बदले और उलझाने की कोशिशें की गईं। अन्त में दादा (आठवले) ने अपने ढंग से अपनी बात समझाई कि, “मेरे लिए ‘विदिन’ और ‘विद’ में कोई अन्तर नहीं है। मौलाना साहब को जो अपाट्य खाई दीखती है, वह मुझे मेरे दृष्टिकोण और अनुभव में कहीं दीखती ही नहीं है, तो मैं क्या कह सकता हूँ।”

पता नहीं, जब मेरी बोलने की बारी आई, मैं अपनी बात को साफ-सुथरे ढंग से रख पाया कि नहीं। पर मेरा आशय यह था कि हिन्दू धर्मदृष्टि या जीवन-दर्शन जिसे कहा जाता है, उसमें यह in-dwelling God की और Transcendent God की या ब्रह्म की दोनों ही अवधारणाएँ आखिर कैसे एक साथ प्रचलित और सर्वथा स्वीकार्य

हुईक्यों हमको उनके बीच अपाट्य खाई नहीं दीखती, और दूसरे मजहबों को दिखती है, इसका विचार अगर सम्भव हो तो सबसे पहले करना चाहिए। इसमें आप एक बात और शामिल करें। अभी दिल्ली के शाही इमाम ने बड़े जोर से यह बात कही है और वह यह है कि “हिन्दू धर्म कोई मजहब नहीं है, वह तो एक तहजीब है।” मैं नहीं समझता, यह उन्हीं तक सीमित बात होगी। अब इसका क्या अर्थ है? जाहिर है, इस बात में भारतीय धर्मचेतना की गम्भीर आलोचना और सुस्पष्ट नकार निहित है : इसमें तहजीब और मजहब के बीच आत्यन्तिक विभेद और विच्छेद किया गया है और यहाँ असली महत्त्व मजहब का है, तहजीब का नहीं। शाही इमाम यह बात पूरे विश्वास और दावे के साथ कह रहे हैंकिसी सामान्य प्रशंसा या निन्दा के लहजे में नहीं। तो एक दृष्टि यह है जो अपने धर्म-विश्वास अथवा अकीदे को ही एकमात्र सत्य विचार और विश्वास मानती हैअन्य विश्वासों या अनुभवसिद्ध प्रतीतियों को एक सिरे से नकारती है, यानी असत्य मानती है। क्या यह सिर्फ शाही इमाम जिस मजहब का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी पर लागू होता है? नहीं, यह अपने एकमात्र सत्य होने का दावा तो इस्लाम के प्रादुर्भाव से बहुत पहले जनमी यहूदी-खिस्ती धर्मदृष्टि के साथ ही प्रगट हो चुका था। इतिहासज्ञ आर्नोल्ड ट्वायनबी ही मसलन, इस्लाम को अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ The Study of History में क्रिश्चियानिटी की ही एक ‘हेरेसी’ मानते हैं। बेशक, ऐसा मानने वाले कई सारे और लोग भी होंगे। तो, सवाल उठता है कि हिन्दू तहजीब या हिन्दू धर्म में पली-पुसी बुद्धि को इस इतनी बुनियादी आलोचना को गम्भीरतापूर्वक क्यों नहीं ग्रहण करना चाहिए और क्यों नहीं उसका सात्त्विक और आलोचनात्मक प्रत्याख्यान करना चाहिए? क्यों उसे ‘सेकुलरिज्म’ की परोपजीवी समझ से भी सीधे उसी स्तर पर आलोचनात्मक स्तर पर नहीं टकराना चाहिए जो स्वयं आधुनिक ईसाई धर्माचार्यों के कथनानुसार ईसाइयत की ही एक कला हैउन्हीं की शब्दावली में Secular phase of Christianity है? आपने कल-परसों सुनादादा आठवले ने अपनी अरब-यात्रा और वैटिकन-यात्रा के अनुभव भी बताए। क्यों बताए? शायद उन्हें लगता हो कि यदि अरब के मुसलमान और वैटिकन की ईसाई धर्म-सत्ता तक उनकी बात सुनती है तो वे अपने देश के मुस्लिम या ईसाई धर्मावलम्बियों को भी साथ लेकर क्यों नहीं चल सकते? क्या आप सहमत हैं उनके आशावाद से? हैं, तो बताइए वह मात्र एक भलमनसी का आशावाद है या उसमें कोई गहरी तत्त्व की बात है जिसे हमें उसकी तार्किक निष्पत्ति तक ले जाने के लिए तैयार हो जाना चाहिए? चलिए, मान लिया हम मजहबी नहीं हैं, तहजीबी हैं, तो भीइसके बावजूद, हमें पूछना होगा अपने ही मार्ग को मोक्ष या ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र सत्य मार्ग मानने वालों सेकि आठवले जी का यह जो आत्मविश्वास है इसका स्रोत कहाँ है? जाहिर है कि यह उस तहजीब यानी धार्मिक-दार्शनिक

संस्कृति का ही आत्मविश्वास है जो चराचरवादी है; जो महज मानववादी होने से कहीं ज्यादा गहरी और मूल्यवान चीज है क्योंकि यह सृष्टि के कण-कण में दिव्यता और पावनता का वास देखती-मानती है और मनुष्य को भी सिर्फ इसीलिए अन्य जीवधारियों से अधिक महत्त्व का अधिकारी मान पाती है कि सृष्टि विकास क्रम में उसी में आत्मचेतन चेतना का विकास सबसे पहले हुआ है और इसीलिए वह अपने भीतर और अपने से परे के 'दिव्य' (देवत्व, परमात्म-तत्त्व) का साक्षात्कार करने और उसे जीवन में उतार लाने, चरितार्थ करने में समर्थ हो सकता है।

तो, ...सवाल यह है कि हमारा 'स्परिच्युअल कामनसेंस' क्या कहता है इस पर? हमें इस होलिस्टिक, पावनता जनित धर्म-दृष्टि को सार्वभौम और मनुष्यमात्र के लिए स्वाभाविक और कल्याणकारी मानकर क्यों नहीं संवाद करना चाहिए? वह धर्मदृष्टि और चराचर जगत् को पावनता से बहिष्कृत न मानने वाली परम्परा हमारी बौद्धिकता का भी प्रस्थानबिन्दु या आधार क्यों नहीं होना चाहिए जिसमें प्रारम्भ से ही मनुष्य-समेत समूचे पर्यावरण की सुरक्षा की चिन्ता अन्तर्निहित थी?

वह मानवी बुद्धि का भी ज्यादा बड़ा पुरुषार्थ क्यों नहीं है जो 'सर्वभूतान्तरात्मा' और 'परात्पर' के बीच कोई खाई नहीं खोदता, कोई असमाधेय विरोध नहीं देखता? और इसीलिए मानवता को भी दो धड़ों में विभाजित करके देखने से, उन्हें एक-दूसरे का सनातन बैरी बनाए रखने की गुंजाइश ही जड़ से खत्म कर देता है।

दुर्भाग्यवश, यह बहस बहुत गहरे नहीं उतर सकी; अपेक्षाकृत साधारण उलझनों में ही उलझ कर रह गई। हाँ, याद आया मैंने जयशंकर प्रसाद के हवाले से यह बात भी सामने रखी थी कि स्वयं हमारे यहाँ, अर्थात् भारतीय धार्मिक अनुभव के आरम्भकाल में ही ये दोनों विचारधाराएँ प्रकट हो चुकी थीं। ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद भी यह कहते हैं कि इन्द्र के उपासक आत्मवादी थे और वरुण के उपासक परात्पर सत्ता में विश्वास करने वाले। और दोनों में संघर्ष भी हुआ ही होगा। तथाकथित असुर अहुरमज्द के अनुयायी बने जो वरुण के उपासकों की ही परम्परा को आगे बढ़ाते रहे। वे ईरान तथा अन्य पश्चिमी देशों में फैले। जबकि, इन्द्रोपासक यानी आत्मवादी लोग यहाँ इसी देश में प्रभावी हुए। अगर इस ऐतिहासिक दृष्टि में जरा भी दम है तो क्या इससे यही नहीं साबित होता कि मनुष्य के भीतर जो अपने से बड़ी शक्ति पर-देव-शक्ति पर विश्वास करने की, उसे पूजने की नैसर्गिक प्रवृत्ति रही है आरम्भ से ही, वह आरम्भ में ही इन दो रूपों में इस तरह अभिव्यक्त हुई। और ऐसा भी नहीं, कि दोनों एक दूसरे से प्रभावित न हुए हों : in-dwelling God वाले आत्मवादी तथा परात्पर परमात्मा की अवधारणा के निकट पड़ने वाले वरुणोपासक, असुर सभ्यता के रचयिता एक दूसरे से प्रभावित हुए ही होंगे : तभी तो वैदिक धर्म अपने विकास-क्रम में पौराणिक रूपान्तरण में कई उपासना-पद्धतियों को पचा-धुला

सका। दार्शनिक स्तर पर तो 'परात्पर' की अवधारणा सर्वभूतान्तरात्मा की अवधारणा से अभिन्न मानी ही जाती रही है बहुत पहले से। तो उनमें बैर कहाँ है, विरोध कहाँ है? रही देवासुर-संग्राम की बात, तो आप सभी जानते हैं, उसका असली अर्थ क्या है।

मेरा आशय यह था कि यदि ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ मनुष्य नाम के 'वरशिपिंग एनिमल' में लगभग एक साथ ही उपजीं और स्वयं इस भारत देश में ही उपजीं तो इसके फलस्वरूप, यहाँ मनुष्य की धर्मभावना का विकास किस तरह हुआ क्यों हममें 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' वाली अनुभूति और बुद्धिमता के मेल में वैसी ही ऐक्य-साधक संस्कृति विकसित हुई जो धर्म के क्षेत्र में उस तरह और कहीं नहीं हुई। इसे समझने में, इसके बारे में संवाद चलाने में सबको दिलचस्पी क्यों नहीं होनी चाहिए? जो हमारी सभ्यता की सबसे मजबूत और महत्त्वपूर्ण खासियत है, उसे लेकर हम आत्मविश्वासी बौद्धिक आचरण करने के बदले, इस तरह कुठित और कुंठा-प्रेरित आत्महीन आचरण करते रहने को क्यों बाध्य हैं? हमारे यहाँ प्रश्नाकुलता को सर्वाधिक महत्त्व क्यों दिया गया है। क्यों नहीं हम सारी प्रचलित अवधारणाओं को प्रश्नांकित करने की जिम्मेदारी अनुभव करते? बिना इसके हम बुद्धिजीवी कहलाने के हकदार ही कैसे बन सकते हैं और हमें हिन्दू बुद्धिजीवी कहलाए जाने से भी क्यों भयभीत होना चाहिए?

आठवले नेजहाँ तक मुझे याद है इस पर इतना ही कहा कि यह सब इतिहास में नहीं जानता; मुझे इसमें पड़ने की आवश्यकता भी नहीं लगती। मैं तो सिर्फ यही जानता और मानता हूँ कि भगवान हर मनुष्य के भीतर हैं-उन्हीं की शक्ति से सदा जीवन चलता है, इस बात को अगर हम समझ लें, मान लें तो विभिन्न सभ्यताओं का सारा सामाजिक जीवन आपस में जुड़ जाता है, अपना बृहत् सामुदायिक समष्टिगत अर्थ पा जाता है। गरीब-अमीर तो हमेशा रहेंगे। व्यक्तियों के बीच का अन्तर भी सदा ही रहेगा। पर हिंसा और लोभ वृत्ति पर अंकुश बना रहेगा। असली न्याय का, यानी सामाजिक न्याय का स्रोत यही हो सकता है। कोई मनुष्य-निर्मित कानून नहीं।

एक प्रसंग में पं. विद्यानिवास मिश्र ने दादा से पूछा "हमसे आप क्या अपेक्षा करते हैं, यह हम आपसे ही सुनना-जानना चाहते हैं। तभी यह संवाद सार्थक होगा।" इस पर दादा बोले "अपेक्षा लेकर तो मैं चलता ही नहीं हूँ।" पण्डितजी बोले यहाँ किसी व्यक्तिगत अपेक्षा की बात नहीं हो रही है। आपने हमें आमंत्रित किया है, तो स्पष्ट ही, हमारा अपने समाज से कैसा-क्या रिश्ता है या होना चाहिए, इस बारे में आपकी निश्चित ही एक समझ बनी होगी। आप जो कह रहे हैं, उससे हम परिचित हैं। हम उसके महत्त्व को समझ रहे हैं परन्तु इन कई सत्रों में आपने हम लोगों की जो प्रतिक्रियाएँ हैं, शंकाएँ हैं या अपेक्षाएँ हो सकती हैं, वे भी तो सुनी हैं। उसी सिलसिले

में मेरा निवेदन था कि इतनी बातचीत के बाद अब हम चाहते हैं आप अपना मन बताएँ। सही-गलत जो भी आपको लगा हो, क्या आपको यही बातचीत कुछ काम की लगी? बहुत कुछ आपके मन में होगा, आप अपने अनुभव के आलोक में हम विभिन्न क्षेत्रों के बुद्धिजीवियों के 'कर्म' को किस तरह देखते हैं या देखना चाहते हैं, आपके इस अभियान में उनका क्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान हो सकता है यह आपके मन के पहले की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट हुआ होगा। मैंने उसी सन्दर्भ में आपसे पूछा था।

हाँ, एक बात और भी विद्यानिवासजी ने कही थी जिसको, मैं समझता हूँ, दादा के अनुयायियों ने यथावत् ग्रहण नहीं किया। विद्यानिवासजी ने कहा था "आपका, यानी स्वाध्याय का कार्यक्षेत्र सौराष्ट्र रहा है जहाँ पहले से भूमि तैयार थी, अनुकूल थी क्योंकि वहाँ कई सुधारक और सद्गुरुष काफी काम कर चुके थे। गाँधीजी का ही उदाहरण लें जैसे। परन्तु वहाँ की तुलना में उत्तर प्रदेश और बिहार की हालत तो बहुत ही खराब है। यहाँ सबसे अधिक भ्रष्टाचार है, सबसे अधिक हिंसा और अन्याय है। ऐसे में यहाँ स्वाध्याय का प्रयोग कैसे फलीभूत होगा यह हमारी चिंता है। इन कठिनतर परिस्थितियों के बीच, ज्यादा कड़ी चुनौतियों का कैसे सामना किया जाए, इस बारे में कोई 'स्ट्रेटजी' बनानी होगी कि नहीं?"

बात मेरी समझ से तो सहज और प्रासंगिक थी। मगर उसका जैसा उत्तर या मंथन-विचार अपेक्षित था, उसके बदले उल्टा ही परिणाम देखने में आया। स्वाध्याय के कार्यकर्ता जरूरत से ज्यादा ही 'सेल्फकांशस' हो गए और मानो उनकी बड़ी प्रतिकूल आलोचना हो गई हो, इस तरह अपना पक्ष स्पष्ट करने लगे। कहने लगे गुजरात में उतनी ही हिंसा, उतना ही भ्रष्टाचार है जितना आपके यहाँ। यह आपका भ्रम है कि हमें जो सफलता मिली, वह सब कुछ अनुकूल होने के कारण मिली। धीरूभाई बोले 'गुजरात में आपको पता नहीं है, आपके यहाँ से कहीं अधिक भ्रष्टाचार और कहीं अधिक हिंसा है'। स्वाध्याय के किए-धरे के महत्त्व को इस तरह आप कम करके आँक रहे हैं, यह आपकी भूल है। यह भी कहा गया कि स्वाध्याय सिर्फ गुजरात तक सीमित नहीं है। महाराष्ट्र से भी स्वाध्याय के लोग काम कर रहे हैं, कर्नाटक में भी। मध्य प्रदेश में भी बहुत अच्छी शुरुआत हुई है। राजस्थान और हरियाणा में बहुत सारे लोग स्वाध्याय के प्रति आकर्षित हुए हैं... इत्यादि-इत्यादि।

बात को बिखरते देखकर दयाकृष्ण जी ने उसे दूसरी पटरी पर लाने की कोशिश की। विभिन्न धर्मों के आचार्यों का आपसी संवाद कराने की जरूरत पर बल दिया। यह प्रयोग उन्होंने कभी स्वयं किया था। तो अपने अनुभव उन्होंने बताया। उन्होंने धार्मिक मतभेदों की चर्चा को अनावश्यक बताया और मानवीय शब्द पर जोर दिया। कहा 'ह्यूमैनिस्ट' दृष्टिकोण से ही स्वाध्याय आन्दोलन का मूल्यांकन करना उचित और

लाभदायक होगा। भक्ति को सामाजिक शक्ति के रूप में जिस तरह पहचाना और प्रयुक्त किया गया है, स्वाध्याय द्वारा, वही मुद्दे की बात है। वही इस संवाद की धुरी होनी चाहिए।

इस पर सभी सहमत होते दिखाई दिए। यह तो बात है ही, कि अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म का सामाजिक पक्ष कम संवेदनशील और परिवर्तन-विरोधी बताया जाता रहा है। यही उसकी आलोचना का प्रमुख मुद्दा रहा है। चूँकि स्वाध्याय आन्दोलन ने इतने कम समय में इस क्षेत्र में काफी कुछ कर दिखाया है, इसलिए कहा जा सकता है कि उसने उक्त आलोचना का समुचित प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य प्रदर्शित की है। और यह एक दूरगामी महत्त्व की घटना है जिसमें हिन्दू समाज और स्वयं जिसे 'बिहैवियरल हिन्दुइज्म' कहा जाता है यानी आचरणगत हिन्दुत्व, उसके भी सार्थक और प्रगतिशील कायाकल्प की सम्भावनाएँ उजागर हुई हैं। ऐसी घटना पर बुद्धिजीवी वर्गों का ध्यान जाना ही चाहिए, उनका विचारोत्तेजन होना ही चाहिए, यह भी ठीक बात है। सच पूछो तो स्वयं इस बुद्धिजीवी समुदाय को भी अपनी समझ का कायाकल्प करने की जरूरत है और 'स्वाध्याय' का यह प्रभावशाली प्रयोग उन्हें ऐसा एक अवसर सुलभ कराता है निःसंदेह।

डॉ. लोहिया की पावक और प्रेरणाप्रद स्मृति में **

रामेश्वर मिश्र 'पंकज'*

डॉ. राममनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च, 1910 को हुआ था। पर वे अपना जन्मदिन कभी भी मनाने नहीं देते थे। क्यों? क्योंकि 23 मार्च को ही भगतसिंह-राजगुरु-सुखदेव को फाँसी दी गई थी। वह देश के लिए शोक और दुःख का दिन है। प्रेरणा का भी है। परन्तु हर्ष का नहीं।

यह आयोजन मुख्यतः एक बौद्धिक आयोजन है। यह राजनीतिक कार्यकर्ताओं का सम्मेलन नहीं है। अतः यहाँ डॉ. लोहिया के व्यक्तित्व और विचारों पर चिन्तन-मनन, स्मरण-अनुध्यान का ही महत्त्व है।

डॉ. लोहिया क्या थे? दार्शनिक, विचारक, राजनेता, संस्कृति-चिन्तक, सौन्दर्य-मीमांसक, भाषा-शास्त्री, महान देशभक्त, महान मानवतावादी, श्रेयस्कर और टिकाऊ विश्व-सभ्यता के लिए कार्यरत विश्वनेता, इतिहासज्ञ, अर्थशास्त्री, नीतिज्ञ, अद्वितीय वक्ता, अद्वितीय लेखक, बहुभाषाविद, विद्वान, दीन-दुखियों के सखा और हितैषी, कार्यकर्ताओं के संरक्षक और मार्गदर्शक, युवजनों के प्रेरक और प्रशिक्षक, स्त्रियों के साथ हो रहे अन्याय के तीव्र प्रतिकारकर्ता और योजनाकार, दलितों-वनवासियों-पिछड़ों-अल्पसंख्यकों के वाजिब हकों के लिए लड़ने वाले महान सत्याग्रही योद्धा, औपनिवेशिक प्रशासनतंत्र को बदलने के लिए सन्नद्ध राजनीतिशास्त्री, चौखम्भा राज के चिन्तक राजपुरुष, नस्लवाद और रंगभेदवाद की समाप्ति के लिए संकल्पित महान विश्व-नागरिक और नेता, देशों के भीतर और देशों के बीच हर प्रकार की गैर-बराबरी और नाइंसाफी को खत्म करने की दूरदृष्टि से दीर्घकालिक राजनीति कर रहे धर्मनिष्ठ महापुरुष, घटनाओं की तह तक जाकर उसके बुनियादी कारणों को उजागर करने के

*प्रो. रामेश्वर मिश्र 'पंकज', सी165/1, प्रोफेसर्स कॉलोनी, भोपाल।

**डॉ. लोहिया जन्म शताब्दी समारोह, मध्य प्रदेश द्वारा हिन्दी भवन, भोपाल में 10-11 अक्टूबर, 2009 को सम्पन्न राष्ट्रीय परिसंवाद में दिया गया बीज भाषण।

आग्रही पत्रकार, व्यक्तिगत जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के विरोधी और व्यक्ति की गरिमा के अनथक संरक्षक, सादगी और स्वच्छता-पसन्द अभिजातपुरुष, अत्याधिक अध्ययनशील ज्ञान-साधक, लोगों से घुल-मिल जाने में विलक्षण लोकनायक, अत्याधिक पीड़ा सह सकने में समर्थ तपस्वी और तितिक्षु, अपने प्रेमपूर्ण स्पर्श से नवयुवकों में उत्साह का संचार कर देने वाले युवजनों के सर्वप्रिय नेता, गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतिपादक और जन-साधारण की समझ में आ सकने योग्य मुहावरों में उन सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर सकने में समर्थ अनूठे वक्ता, तत्कालीन कांग्रेस से लड़ने वाले महाकाव्योचित धीरोदात्त वीर नायक और रणनीति-विशारद, महात्मा गाँधी के प्रति निश्छल भक्ति रखने वाले सरल हृदय व्यक्ति; झूठ और हिंसा जिनके लिए स्वभावतः असम्भव थी, ऐसे श्रेष्ठ सत्पुरुष; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मर्मज्ञ कूटनीतिज्ञ, विश्व-समाजवादी आन्दोलन के धुरन्धर दिग्गज, भारत माता की एक श्रेष्ठ भक्त सन्तान, राम-कृष्ण-शिव के सच्चे आराधक, नदियों की सफाई और तीर्थों की स्वच्छता के आग्रही पर्यावरणविद् और धर्मनिष्ठ हिन्दू, अल्पसंख्यकों के हित की वास्तविक चिन्ताएँ करने वाले पंथनिरपेक्ष भारतीय; लिपि, भाषा, शिल्प, वास्तु, पुरातत्त्व, प्रतिभा-निर्माण और प्रतिभा-शिल्प के गहरे जानकार संस्कृति पुरुष; भारतीय और यूरोपीय संगीत के मध्य विद्यमान एकता और विभेद को समझने तथा समझाने वाले सहृदय रसज्ञ और गुणीजन; पाखण्डों पर सधे हुए प्रहार करने वाले और महान पाखण्ड-खण्डनी-प्रज्ञा से सम्पन्न तेजस्वी धर्मवेत्ता तथा पाखण्ड ध्वंसक; राजनीति में बड़े जतन से खड़ी की गई शासकों की छवियों के युक्तिविद छविभंजक, एक विश्व सरकार और विश्वसंसद के आग्रही वैश्विक राजनेतामेरी समझ से सभी कुछ एक साथ।

कहाँ गए, आज भारत में उस कोटि के राजपुरुष? आज चारों तरफ शरीर से मोटे-तगड़े पर व्यक्तित्व में अत्यन्त इकहरे, कृश, क्षीण, मन्द और एकायामी राजपुरुषों के ठट्टे के ठट्टे देखकर बारम्बार संशय होता है कि क्या यही वह देश है, जहाँ अभी बमुश्किल 70-80 वर्ष पहले ऐसे महान व्यक्तित्वों की भारतीय राजनीति में भरमार थीलोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, महामना मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रासबिहारी घोष, विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, चन्द्रशेखर आजाद, विनायक दामोदर सावरकर, रमेशचन्द्र दत्त, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, अशफाकउल्ला खाँ, शाहनवाज खाँ, गुरुदयालसिंह दिल्ली, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि। और राजनीति से बाहर श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महर्षि रमण, माँ आनन्दमयी, चन्द्रशेखर वेंकट रमण, जगदीशचन्द्र वसु, सत्येन्द्रनाथ बोस, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, प्रेमचन्द, आदि-आदि।

विचार योग्य बिन्दु यह है कि ऐसा क्यों हुआ? यूरोप की नकल में इन दिनों भारत में भी कहा जा रहा है कि यह ज्ञान के विस्फोट का युग है। तब फिर कहाँ है वैसी विराट ज्ञान प्रतिभाएँ और कर्म प्रतिभाएँ? क्या यह केवल काल-प्रवाह का परिणाम है? या इसके ऐसे भी कारण हैं, जिनका बौद्धिक विश्लेषण सम्भव है?

वस्तुतः हमारा जो शिक्षा तन्त्र है, वह अपनी संरचना में यूरो-क्रिश्चियन शिक्षा-तन्त्र ही है। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह कहा जा सकता है कि विज्ञान के अधिकांश सैद्धान्तिक अन्वेषण लगभग सार्वभौम पदावली में हैं, परन्तु मानविकी विद्याओं के क्षेत्र में रेनेसां के बाद मध्ययुगीन क्रिश्चियनटी को यूरोप द्वारा अलविदा कहने के बाद भी संरचना के स्तर पर अनेक यूरो-क्रिश्चियन मान्यताएँ यथावत चल रही हैं। उसका कारण यह है कि श्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने शिक्षा की उसी धारा को यथावत स्वीकार किया। जबकि महात्मा गाँधी और डॉ. लोहिया दोनों ही स्वतंत्र भारत में शिक्षा का एक अपना स्वतंत्र ढाँचा चाहते थे, जो आधार और विस्तार दोनों में सच्चे अर्थों में वैश्विक अतः सार्वभौम चेतना से सम्पन्न स्वदेशी हो। अभी का ढाँचा विश्वयारी की राजनीति की उपज है। देशभक्ति का तत्त्वतः अर्थ है प्रज्ञा-परम्परा, विद्या-परम्परा और पुरुषार्थ परम्परा के प्रति श्रद्धा रखकर पुरुषार्थ करना। ऐसी देशभक्ति से ही नेहरू शून्य थे; यद्यपि उन्हें हिन्दुस्तान की धरती, प्रकृति, परिवेश और संसाधनों से गहरा लगाव था; भारत के मानव-संसाधनों से भी उन्हें गहरा लगाव था। वे इन्हें अपनी रूपांतरण योजना का सर्वथा अनुकूल उपकरण मानते थे, अपनी निजी विचार-प्रयोगशाला में ढालने योग्य मासेज। इन्हीं मासेज से और रिसोर्सिज से उन्हें लगाव थागहरा और तीव्र लगाव। पर यह देशभक्ति नहीं है, देशभक्ति का अभाव है।

विचारणीय यह भी है कि आखिर इन प्रतिभाओं को भारतीय समाज ने इतना अधिक महत्त्व और ऐसी आत्मीयता कैसे दी? यह भी कि क्या केवल भारत के गरीबों और दलितों ने ही इन महापुरुषों को अपनाया, उन्होंने ही इनकी प्रतिभा और महत्ता को पहचाना या समाज के अन्य सभी समूहों ने भी। परन्तु इन विषयों पर विचार से भी पहले कुछ देर हम स्वयं लोहिया तक ही अपना ध्यान केन्द्रित करें।

डॉ. लोहिया ने कहा था कि किसी भी व्यापक विचारधारा के चार आयाम अवश्य होते हैं—दर्शनशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र या राज्यशास्त्र और अर्थशास्त्र। परन्तु डॉ. लोहिया के बाद इनमें से किस-किस धारा में उनके चिन्तन को आगे बढ़ाया गया है, यह अवश्य हमें जानकारी जुटानी चाहिए। विश्व में कहाँ उन दिशाओं में काम हो रहे हैं?

दर्शनशास्त्र के स्तर पर डॉ. लोहिया ने दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं। एक तो यह कि 'क्षण अनन्त भी है और प्रवाह भी'। इसके बहुत दूरगामी परिणाम होते हैं। दूसरी बात उन्होंने कही थी—उदार दर्शन तेजस्वी कार्यक्रमों को जन्म देता

है। पहली वाली बात को उनके इतिहास-चक्र की अवधारणा के सन्दर्भ में समझना आवश्यक है।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यूरोप के लगभग सभी प्रमुख समूह काल की एकैखिक अवधारणा और एकैखिक ऐतिहासिक विकास-क्रम को मानते थे। डॉ. लोहिया ने इतिहास-चक्र की अवधारणा दी। उन्होंने यह कहा कि विश्व में अलग-अलग समाजों में विकास और हास के अलग-अलग दौर आते रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में सदा एक-सा ही समय नहीं रहता। विश्व इतिहास में अनेक बार कई समाज शिखर पर गए हैं और फिर नीचे आए हैं। उनका कहना था कि एक समय भारत और चीन के समाज सर्वाधिक विकसित और गतिशील थे। जबकि इन दिनों यूरोपीय समाज विकासशील और गतिशील हैं तथा ऐतिहासिक कारणों से भारत में जड़ता की-सी स्थिति आ गई थी, परन्तु इन्हें पुनः तेजी से गतिशील होना है और हो भी रहे हैं। इन दिनों भारत में ऐसा कोई भी राजनीतिक विचारक नहीं है, जो इन तथ्यों को उनके सम्पूर्ण प्रभावों के साथ समझता और मानता हो या कहता देखा जाता हो। स्थिति तो यह है कि साम्राज्यवाद के दौर में अचानक यूरोप में नस्लीय अहंकार आ गया, जो कि अचानक प्राप्त लूट की सम्पत्ति से आए ऐश्वर्य का परिणाम था। यह बात भारत के अधिकांश राजनीतिक कार्यकर्ताओं और नेताओं के ध्यान में ही नहीं है कि 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप के विविध देशों के लोग ऐसे किसी नस्लीय अहंकार से प्रेरित नहीं थे। प्रारम्भ में तो वे लोग चीन और भारत की प्राचीन संस्कृतियों की जानकारी पा कर विस्मित और मुग्ध थे तथा उनकी ही अच्छाइयों को अपनाने को आकुल थे। यह तो जैसे-जैसे उन्हें राजनीतिक सफलता, जो कि साम्राज्यवादी लूट का ही दूसरा नाम है, मिलती गई, जैसे-वैसे उनकी वाणी और व्यवहार में अहंकार आता गया। बहरहाल, 19वीं शती ईस्वी में यह अहंकार खासा पुष्ट हो गया था और नस्लवादी दर्प का रूप ले चुका था।

फलस्वरूप साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद उन्होंने (साम्राज्यवादियों ने) उस नस्लवाद की बदसूरती जानते-समझते हुए थोड़ा हेर-फेर से शब्दों का प्रयोग शुरू कर दिया—पहले वे स्वयं को 'सभ्य' मनुष्य और अन्यो को 'असभ्य' तथा 'बर्बर' अथवा 'अन्धकार में पड़े हुए' मनुष्य या देश और समाज कहते थे। अब वे स्वयं को 'विकसित' और अन्यो को 'अविकसित' कहने लगे। कुछ समय बाद इसमें संशोधन कर अन्यो को विकासशील कहने लगे। यह नस्लवादी दर्प का ही रूपान्तर है। इस बीच पूर्वउपनिवेश समाजों में सर्वत्र इनकी शिक्षा-संरचना के प्रभाव से इनके अभिकर्ताओं का एक प्रभावशाली वर्ग सत्ता में आ गया है और जो अपने-अपने समाजों और देशों को गर्व के साथ विकासशील कहता है, जो नस्लवाद के समक्ष समर्पण के सिवाय कुछ नहीं है और जो इतिहास-चक्र की डॉ. लोहिया की धारणा की विस्मृति से ही सम्भव है। ऐसे ही अभिकर्ताओं का एक बड़ा वर्ग सोवियत संघ और चीन के हित-पोषक

के रूप में प्रबल होकर उभरा था। यहाँ यह भी स्मरण करना आवश्यक है कि इतिहास-चक्र की डॉ. लोहिया की धारणा भारत की सनातन प्रज्ञा और वेदों-उपनिषदों, रामायण तथा महाभारत में प्रतिपादित काल-दृष्टि के सर्वथा सुसंगत है, परन्तु काल-चक्र की जो व्याख्या पुराणों में की गई है सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग अमुक वर्षों के लिए निश्चित क्रम में अनिवार्यतः आते हैं और आएँगे, उससे डॉ. लोहिया की दृष्टि नितान्त भिन्न है। पौराणिक व्याख्याएं पस्त-हिम्मती फैलाती हैं कि कलियुग है, इसमें कुछ श्रेष्ठ नहीं हो सकता। डॉ. लोहिया की इतिहास-चक्र की धारणा में युगों की ऐसी सुस्थिर परिक्रमा जैसी कोई बात नहीं है। इसीलिए डॉ. लोहिया की इतिहास-चक्र की धारणा को काल और क्षण-विषयक उनके दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के साथ समझना ही उचित है।

वह दूसरी बात यह है कि क्षण प्रवाह के साथ अनन्त भी है। यह बोध इस ओर ले जाता है कि यदि पर्याप्त पुरुषार्थ किया जाए, तेजी से आत्मविकास और उत्कर्ष की साधना की जाए, तो किसी भी दौर में कोई भी समाज या व्यक्ति उत्कर्ष के शिखर को छू सकता है। यह बोध प्रत्येक व्यक्ति और समाज को प्रचण्ड आत्मविश्वास देता है। परन्तु आज तो ऐसा आत्मविश्वास जगाने वाला नेतृत्व नजर नहीं आता। यह सही है कि डॉ. लोहिया ने विश्व राजनीति के यथार्थ को देखते हुए और टिकाऊ वैश्विक सभ्यता तथा समृद्धि के अपने लक्ष्य को देखते हुए 'निराशा के कर्तव्य' की बात कही थी। परन्तु उस निराशा का सम्बन्ध सामान्य राजनीति या राष्ट्रीय दशा से नहीं था।

इतिहास-चक्र और काल-सम्बन्धी डॉ. लोहिया की इस अवधारणा का ध्यान रहे तो यह निष्कर्ष भी स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि *विश्व के सामने कभी भी एक सामान्य चुनौती नहीं हो सकती*। केवल दूरगामी दीर्घकालिक लक्ष्यों के सन्दर्भ में तो ऐसी एक सामान्य चुनौती की बात सोची और कही जा सकती है, परन्तु शेष तो प्रत्येक समाज की अपनी रणनीतिक व्यूह रचनाएँ ही हैं। क्योंकि अभी यूरोप के सभी देश और संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी यह नहीं चाहेंगे कि साम्राज्यवादी लूट और औपनिवेशिक शोषण तथा विश्व की अत्यन्त समृद्ध सभ्यताओं के क्रूर हिंसक विनाश तथा उनके संसाधनों की खुली लूट से प्राप्त अपनी समृद्धि और शक्ति में वे कोई भी कमी लाएँ। डॉ. लोहिया की दृष्टि से हम देखें तो हम यह चाहेंगे कि उनकी (यूरो अमेरिकी समाजों की) शक्ति का हास हो, पर विनाश या पतन न हो। परन्तु वे तो अपनी शक्ति में किसी भी तरह का हास नहीं चाहेंगे। अतः भारत की शक्ति या चीन की शक्ति जिस रूप में और जिस दिशा में बढ़े, उस पर वे अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित रखना चाहेंगे। उनके समस्त सामरिक और राजनीतिक लक्ष्यों तथा कार्यों का यही प्रयोजन है। भारत के कौन-से राजनेता इन तथ्यों का ध्यान रखते हैं, यह कम से कम किसी भी राजनेता के सार्वजनिक वक्तव्यों से तो पता नहीं चलता। हो सकता है कि उनमें से कोई व्यक्ति मन में ऐसा कोई लक्ष्य रखता हो। यदि ऐसा हो तो निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को बहुत बड़ा 'स्टेट्समैन' कहेंगे।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में डॉ. लोहिया ने अलग-अलग देशों के श्रम के मूल्य में विषमता का जो तथ्य प्रस्तुत किया था, वह आज तो अर्थशास्त्र के अकादमिक दायरों में चर्चा से ही बाहर है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य जो महात्मा गाँधी और डॉ. लोहिया दोनों ने बारम्बार रेखांकित किया था और तथ्यों के साथ प्रस्तुत किया था, वह यह था कि साम्राज्यवादी विस्तार और बर्बर औपनिवेशिक शोषण ने ही पूँजीवाद के जन्म और विकास को सम्भव बनाया। आज भारत में अधिकांश लोग तो रमेशचन्द्र दत्त जैसे महान अर्थशास्त्री और विद्वान के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों तक को भूल गए हैं। अधिकांश लोगों को यह भी स्मरण नहीं है कि बंगाल के केवल तीन जिलों की मालगुजारी वसूलने का हक पाने के बाद तत्कालीन बादशाहों और नवाबों की कृपा से वसूली की रंगदारी कर रहे कम्पनी के कर्मचारियों और अधिकारियों ने राजस्व वसूली के नाम पर जो भयानक लूट की, उससे ही पहली बार इंग्लैंड का खजाना छलकने लगा और भारत से गए पापपूर्ण लूट के इस धन ने ही एडम स्मिथ को राष्ट्रों की सम्पत्ति की छानबीन का वह ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी, जिसे लोग 'आधुनिक अर्थशास्त्र' का एक मानक ग्रन्थ कहते हैं।

डॉ. लोहिया के जाने के बाद अर्थशास्त्र पर कितने महत्त्वपूर्ण कार्य यूरोप में हो चुके हैंक्लब ऑफ रोम की 'द लिमिट्स टु ग्रोथ' नामक प्रसिद्ध रिपोर्ट 1971 में आ गई। वर्ल्ड वॉच इंस्टीट्यूट की 'स्टेट ऑफ दि वर्ल्ड' रिपोर्ट 1988 में और फिर 2008 में भी आ गई, बारबरा वार्ड की 'स्पेसशिप अर्थ', रैचेल कार्सन की 'द साइलेंट स्प्रिंग', हेजेल हेण्डरसन की 'द पॉलिटिक्स ऑफ द सोलर एज' और 'पैराडाइम्स इन प्रोग्रेस' तथा पर्यावरण और विकास पर अन्तर्राष्ट्रीय आयोगों की रिपोर्टें 'अवर कामन फ्यूचर' आदि शीर्षकों से, विश्व बैंक रिपोर्ट 'रिडिफाइनिंग वेल्थ एंड प्रोग्रेस', ओरियो माइरीनी की 'डॉयलॉग ऑन वेल्थ एंड वेलफेयर' जेम्स राबर्टसन की 'द इनफार्मल इकॉनॉमी, जेरेमी रिफकिन की 'बायोस्फियर पॉलिटिक्स', थामस बेरी की 'द ड्रीम ऑफ द अर्थ', लेसर ब्राउन की 'बिल्डिंग ए सस्टेनेबल सोसायटी', सूसन जार्ज की 'हाउ द अदर हॉफ डाइज', एडवर्ड गोल्डस्मिथ की 'द ग्रेट यू टर्न', आइरेन डायमण्ड की 'रिवीविंग द वर्ल्ड : द इमर्जेन्स ऑफ इकोफेमिनिज्म' आदि। (अभी के यूरो-क्रिश्चियन अर्थतंत्र के पक्ष में लिखी हजारों किताबों का जिक्र यहाँ अप्रासंगिक हैहमारे लिए।)

पर भारत के किसी भी राजनेता के आर्थिक चिन्तन पर इनमें प्रतिपादित तथ्यों का कोई संज्ञान तक नजर नहीं आता। भारतीय अर्थ चिन्तन परम्परा के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र दीनदयाल उपाध्याय ने प्रस्तुत किए थे, परन्तु उनका कोई गहरा संज्ञान डॉ. मुरली मनोहर जोशी के सिवाय भाजपा के किसी अन्य नेता के नीति-वक्तव्यों में दिखाई नहीं देता। जब तक वनों की विकराल कटाई, कृषि क्षेत्र के आधुनिक उत्पादनों द्वारा प्रदूषणकारी जैव अवशेषों का भारी मात्रा में उत्सर्जन, कृषि-क्षेत्र में जैव विविधता की कमी तथा नए फंगसों और रोगाणुओं का व्यापक फैलाव, कीटनाशकों

के प्रयोग से खाद्यान्नों में हानिकर कीटनाशकों का पाया जाना, पानी से होने वाले रोगों की भारी बढ़ोतरी, बड़े बाँधों से बड़ी आबादी का विस्थापन, भूमि और जल में अघुलनशील अवशेषों की भयावह वृद्धि, ध्वनि एवं वायु प्रदूषण, वातावरण में दुर्गन्ध का फैलाव ओजोन की परत पर हानिकारक प्रभावों में वृद्धि, ग्रीन हाउस इफेक्ट, सस्पेण्डेड पार्टिकुलेट मैटर का पर्यावरण में हानिकर फैलाव, नाइट्रोजन के ऑक्साइडों का प्रसार, वाष्पशील हाइड्रो-कार्बन्स का उत्सर्जन, बड़े बाँधों में साद के जमने से तेजी से भराव, अन्तर्राष्ट्रीय परियोजनाओं के लिए विशाल आबादी को नृशंसता से उजाड़ा जाना, हवा में कार्बन-मोनो-ऑक्साइड की बड़ी मात्रा उत्सर्जित करने वाले वाहनों एवं संयंत्रों की बेतहाशा वृद्धि इन सबके कारण मनुष्यों और पशु-पक्षियों में त्वचा रोगों, श्वास रोग, स्नायु रोगों, सुनने और देखने की क्षमता पर हानिकारक प्रभावों, विकलांगता में वृद्धि, आँखों में कड़वाहट तथा सांस में अवरोध की वृद्धि, शीशा से स्नायुतंत्र के क्षतिग्रस्त होने तथा रक्त प्रदूषित होने और मानसिक विकास अवरुद्ध होने के सत्य सामने आने के बाद अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नए चिन्तन की बाध्यता उपस्थित है।

परन्तु इन घटनाओं और तथ्यों का कोई भी संज्ञान भारतीय राजनीति नहीं लेती, समाजवादी राजनीति में भी चिन्तन के स्तर पर इन तथ्यों के सन्दर्भ में कोई भी ताजी विवेचना नहीं आई है। अकेले भारत में 60 वनस्पति प्रजातियाँ लुप्तप्राय हैं, 287 दुर्लभ प्रजातियाँ तथा 1079 अन्य प्रजातियाँ खतरे में हैं। भारतीय प्राणी प्रजातियों में से 67 खतरे में हैं। बाघ भारत में कम से कम एक लाख होने चाहिए, परन्तु 3435 ही बचे हैं। प्रकृति के नियमों को और गहराई से समझने की दिशा में विज्ञान की नई खोजों ने जो तथ्य और सृष्टि के जो नियम प्रकाश में लाए हैं, उनका कोई भी संज्ञान संगठित राजनीति में नजर नहीं आता। अभी भी राजनीतिक परिवेश ऐसा ही बना है कि राष्ट्र या समाज के नाम पर वस्तुओं के उत्पादन को राष्ट्रीय समृद्धि का पर्याय माना जाता है, जबकि अनेक उत्पाद ऐसे हैं, जो मुनाफा कमा रहे कतिपय बड़े व्यापारियों के लिए तो उत्पाद हैं, परन्तु समाज के लिए वे गैर-उत्पाद (disproduct) हैं। उदाहरण के लिए पेट्रोकेमिकल्स और अधिकांश लग्जरी कारें। इनका राष्ट्रीय अपव्यय से तो सम्बन्ध है, राष्ट्रीय समृद्धि से कतई नहीं।

वर्तमान व्यवस्था से जुड़े 'एकेडमिक्स' के भीतर से इसके समाधान नहीं आ सकते, क्योंकि वे ऐसे ही सुझाव देंगे, जिससे प्रदूषण की विकरालता बढ़ती जाएगी। जैसे यह कि प्रत्येक उत्पाद में टैक्स बढ़ाकर सरकारी तन्त्र धनराशि अर्जित करे, ताकि उस धनराशि को प्रदूषण निवारण में लगाया जा सके। राजनीतिक सत्ता और आर्थिक ढाँचा परस्पर सम्बद्ध रहता है, अतः राज्य रक्षित एकेडमिक्स से मौजूदा आर्थिक ढाँचा के विरुद्ध कोई भी समाधान आ पाना असम्भव है। स्वतंत्र स्वायत्त एकेडमिक्स भारत में विकसित नहीं की गई। डॉ. लोहिया का समता विद्यालय का सपना हवा में खो

गया। इतनी बड़ी व्यवस्था का विस्तृत विकल्प एक अत्यन्त प्रतिभाशाली समूह ही प्रस्तुत कर सकता है, कैसी भी विराट प्रतिभा वाला एक बड़ा व्यक्ति सम्पूर्ण सूत्र तो दे सकता है, पूरा विस्तार नहीं।

विश्व मानवता की सबसे ज्यादा बातें इन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहा है और वहाँ की आबादी विश्व की आबादी का लगभग 16 वाँ अंश (6 प्रतिशत) है, जबकि ऊर्जा की खपत वहाँ विश्व की एक तिहाई (33 प्रतिशत) हो रही है। इस प्रकार आनुपातिक हिस्से से पाँच गुनी अधिक ऊर्जा संयुक्त राज्य अमेरिका के लगभग तीस करोड़ लोग आज कर रहे हैं। कोयले और कच्चे तेल की खपत की रफ्तार भयंकर है। सौर ऊर्जा पर भारत को जितना ध्यान देना चाहिए, नहीं दिया जा रहा है। जबकि अभी विश्व न्यायालय की जो स्थिति है, उसमें कल को यह तर्क देकर कि सूरज की धूप विश्व में अलग-अलग क्षेत्र में, अलग-अलग स्तर और स्थिति में है, अतः तेज धूप वाले इलाके केवल सौर ऊर्जा की खपत करें और अपना कोयला तथा कच्चा तेल यूरोप के ठण्डे मुल्कों को मुहैया कराएं, इसके पक्ष में कोई बेढंगा फैसला आ सकता है। दूसरी ओर भारतीय शासकों ने अभी तक विश्व-न्यायालय में अपने पक्ष के ऐसे मामले तक प्रस्तुत नहीं किए हैं, जिनके पक्ष में हमारे पास अत्यन्त पुष्ट तथ्य और प्रमाण हैं।

श्री नेहरू कश्मीर का मसला तो झट से ले गए, परन्तु ब्रिटिश शासन ने 1877 से 1947 तक 70 वर्षों में भारत का जो अकारण शोषण किया, उसके लिए कम से कम 100 अरब पौंड का हर्जाना माँगते हुए एक मुकदमा विश्व न्यायालय में 1948 में ही दायर कर दिया जाना चाहिए था। कम से कम समाजवादियों को यह संकल्प लेना चाहिए कि यदि वे केन्द्रिय सत्ता में आएंगे तो विश्व न्यायालय में ऐसा वाद दायर करेंगे।

विश्व में हो रही वैज्ञानिक शोधों का 80 प्रतिशत से अधिक भाग सैन्यबल से सम्बन्धित है। विश्व भर में आधुनिक अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा हिस्सा सैन्यबल और शस्त्रास्त्रों के धन्धे से जुड़ा है और विश्व स्तर पर इस पर रोक लगने से पहले केवल भारत द्वारा इस पर रोक लगाने पर विश्व के उन मतवादों के लिए भारत सर्वाधिक भेद्य हो जाएगा, जो कि सार्वजनिक तौर पर सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिपत्य को अपना रेलिजस, मजहबी या आइडियॉलॉजिकल लक्ष्य घोषित करते हैं। इस तथ्य से अनजान जो तथाकथित सोशलिस्ट या गांधियन केवल भारत को शस्त्रविहीन बनाने का अभियान चला रहे हैं, वे कितने बड़े भारतघाती उपाय सुझा रहे हैं और किस प्रकार विदेशी एकाधिपत्यवादी मतवादों के हित-रक्षक तथा पोषक बन रहे हैं, यह शायद वे सोच पाने में असमर्थ हैं। विश्व मानवता के नाम पर केवल भारत द्वारा आत्मबलिदान किए जाने की बात सुझाने वाले लोग वस्तुतः हिंसा के परोक्ष अनुमोदन और उसे कारित कराने के उसी प्रकार दोषी हैं, जिस प्रकार भारत विभाजन को हिंसा के डर से

स्वीकार करने वाले लोग उससे बड़ी और विकराल हिंसा के दोषी तथा उत्तरदायी बने।

विश्व की स्थितियों के अज्ञान से डॉ. लोहिया की विरासत का कोई सम्बन्ध जोड़ पाना असम्भव है, क्योंकि डॉ. लोहिया विश्व की अधिकाधिक जानकारी पाने के लिए यत्नशील रहते थे। यहाँ कमलेश जी उपस्थित रहने वाले थे, जो इन प्रयासों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। ओमप्रकाश दीपक जी, किशन जी आदि तो रहे नहीं। वे सब बताते हैं कि डॉ. लोहिया विश्व-परिदृश्य के प्रति कितने सजग थे। परन्तु समाजवादियों में आज बहुत थोड़े-से लोग भी नहीं दिखते, जो विश्व स्थिति की नवीनतम जानकारी के संग्रह में प्रवृत्त हों। ऐसे में क्रिश्चिअनिटी और इस्लाम के विश्व इतिहास की जो जानकारी स्वयं डॉ. लोहिया समयाभाववश नहीं जुटा पाए, उसे कोई डॉ. लोहिया का उत्तराधिकारी जुटाएगा, इसकी अभी तो आशा नहीं है। वैश्विक क्रिश्चिअनिटी और अन्तर्राष्ट्रीय इस्लाम के प्रति भावुक लगाव अवश्य लोहियावादियों में है, पर इन दोनों के गहरे अध्ययन की प्रवृत्ति नजर नहीं आती।

भारतीय इतिहास पर यूरोपीय लेखकों द्वारा लिखी गई किसी भी पुस्तक से डॉ. लोहिया सन्तुष्ट नहीं थे और भारत में उस समय तक इतिहास के जो दो स्कूल प्रमुख थे—मजूमदार स्कूल और ताराचन्द्र स्कूल, दोनों की ही तीखी आलोचना डॉ. लोहिया ने की थी, पर उनके बाद न तो विश्व क्रिश्चिअनिटी और अन्तर्राष्ट्रीय इस्लाम के इतिहास का अध्ययन हुआ, न ही भारतीय इतिहास का तथ्यपूर्ण अध्ययन हुआ। डॉ. लोहिया के एक अनुयायी श्री धर्मपाल ने भारतीय इतिहास के शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य स्वयं ब्रिटिश अभिलेखों से संकलित कर प्रस्तुत किए हैं, पर उनका भी कोई संज्ञान नहीं लिया जाता। ये वे ही धर्मपाल जी हैं, जिन्होंने चीनी आक्रमण के बाद नेहरू जी की राष्ट्र के प्रति उदासीन रक्षा-नीति के विरुद्ध श्री सीताराम गोयल, श्री रामस्वरूप जी, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन आदि के साथ एक तीखी सार्वजनिक चिट्ठी लिखी थी, जो अखबारों में छपी थी और टाइम्स ऑफ इंडिया ने उस पर आलोचनात्मक सम्पादकीय टिप्पणी भी की थी, क्योंकि नेहरू के विरुद्ध कोई बयान देना उन दिनों राष्ट्र विरोधी कार्य माना जाता था। यही श्री धर्मपाल डॉ. लोहिया के साथ उर्वसीयम में भारत सरकार द्वारा बन्दी बनाए गए थे। क्योंकि देश के भीतर किसी क्षेत्र में जाने के लिए विशेष सरकारी अनुमति के राष्ट्रीय नियम के वे विरोधी थे।

लौकिक सन्दर्भ में इतिहास ही दर्शन का आधार बनता है। यदि आप इतिहास पर कार्य नहीं करेंगे, तो आत्म-साधना तो कर सकते हैं, परन्तु दर्शन पर लौकिक सन्दर्भों में कोई काम नहीं कर पाएंगे। वाणी से परे का जो दर्शन का आन्तरिक क्षेत्र है, वह तो अप कर सकते हैं। परिणाम यह है कि भारत में शहरों, कस्बों में घर-घर लगे केबलों और डिश-टीवी आदि में अनेक चैनलों में इस्लाम और ईसाइयत के उपदेशक रात-दिन विश्व में केवल इस्लाम या केवल ईसाइयत का एकाधिपत्य स्थापित

करने की चाहत जगा रहे हैं और राजकीय कोष से प्राप्त धन से कान्चेटों और अनेक मदरसों में भी ऐसी ही एकाधिपत्यवादी लालसाएँ जगाई जा रही हैं। गाँधी जी ने बारम्बार कहा था कि विश्व में अनेक धर्म सदा से हैं और सदा रहेंगे तथा रहने चाहिए। परन्तु भारत के किसी भी राजनीतिक दल में आज यह विवेक नहीं दिखता कि वह यह प्रश्न उठाए कि भारत का शासन इस प्रकार विश्व एकाधिपत्य की लालसा को धार्मिक महत्त्व देने वाले केन्द्रों और व्यक्तियों को राजकीय संरक्षण किस आधार पर दे रहा है और विश्व शान्ति तथा विश्व एकता की किस धारणा और किस कामना के अन्तर्गत ऐसा कर रहा है? अगर कोई दल इस कामना का आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन जानबूझकर कर रहे हैं तब तो वे विवेकविरोधी ही ठहरे।

कम्यूनिज्म का वैश्विक इतिहास सामने आ चुका है। 'ब्लैक बुक ऑफ कम्युनिज्म' में तथ्यों द्वारा प्रामाणिक विवरण दिए गए हैं, कि किस प्रकार 75 वर्षों में कम्युनिस्टों ने लगभग दस करोड़ से ज्यादा निर्दोष मनुष्यों की नृशंस हत्याएँ की हैं, इसके बावजूद भारत के अनेक समाजवादी लगातार कम्युनिस्टों से रणनीतिक गठबंधन कर रहे हैं। इसका वैचारिक या सिद्धान्तिक आधार क्या है? और हत्याओं के इन नृशंस आयोजनकर्ताओं का कोई भी समर्थक फिर किस मुँह से विश्व-शान्ति की बात कर सकता है या विश्व-एकता की बात कर सकता है, यह समझ से परे है।

आपातकाल में कम्युनिस्टों ने जे.पी. तथा समाजवादियों को फासिस्ट कहकर देशभर में फासिस्ट विरोधी सम्मेलन किए थे। उस समय जो लोग बाहर रहकर भूमिगत आन्दोलन के प्रयास कर रहे थे, वे उस वीर्यहीनता के साक्षी हैं, जो भारत के शिक्षित वर्ग के बोलू तबके के बड़े हिस्से में शर्म की हद तक थी, जिनमें वे लोग भी शामिल हैं, जिन्होंने पहले दिन सम्पादकीय की जगह खाली छोड़ दी थी, पर बाद में संजय गाँधी के एक-एक सूत्र पर विशेष संस्करण और लेखमालाएँ निकाल रहे थे। कुछ लोगों ने तो प्रतिष्ठित आन्दोलनकारियों के नाम से छद्म सामग्री भी लिखकर जगह-जगह बँटवाई थी, ताकि उन्हें भी आपातकाल का समर्थक प्रचारित किया जा सके। सौभाग्य से वह दुष्ट योजना सफल न हो पाई, लोगों ने विश्वास ही नहीं किया। वह आपातकाल इन्दिरा जी ने मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव से और भारत में माँ आनन्दमयी जैसों के दबाव से हटाया था। उसमें आन्दोलनकारियों का कोई विशेष पुरुषार्थ उस कदम के उठाए जाने में नहीं था। परन्तु विचार जगत और मीडिया पर कम्युनिस्ट प्रभाव के कारण गैर-कम्युनिस्ट लोग भी आए दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्पूर्ण समाज पर अपनी भड़ास निकालते रहते हैं, जो कृतघ्नता और असभ्यता तो है ही, गैर जानकारीपूर्ण भी है।

इसी प्रकार, यूरोप के प्रबुद्ध नागरिकों के कई बड़े समूह हैं, जो एक बेहतर विश्व के लिए कार्यरत हैं। उनसे मैत्री के बिना अकेले भारत के भीतर कैसे कोई बड़ी चीज खड़ी होगी, जबकि यहाँ जो लोग सत्तारूढ़ हैं, वे मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन

और बल से हैं, न कि देश के भीतर के बल से। यूरोप में 14वीं-15वीं शती ईस्वी तक बहुदेववादी संस्कृति की कई धाराएँ विद्यमान थीं, जिन्हें पेगन कहकर मध्यकालीन पॉलीन चर्चतंत्र ने जिन्दा जला डाला, कत्लेआम किया और भयंकर यातनाएँ दीं। आज वहाँ वही पेगन आन्दोलन पुनः उभर रहा है। वे भारत के स्वाभाविक मित्र हैं।

प्रत्येक बाहरी आक्रमण का उपयोग यूरो-अमेरिकी चर्च अपने लिए कर लेता है। विश्व व्यापार संगठन के भवन पर हुए हमले के बाद से वहाँ रूढ़िवादी चर्च पुनः सक्रिय हो गया है। पिछले वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका में 'एबॉर्शन' की इजाजत देने वाला कानून खत्म कर दिया गया। क्योंकि चर्च की मान्यता है कि सेक्स ही 'ओरिजनल सिन (मूल पाप)' है और उसकी दोषी ईव है। अतः स्त्रियाँ मुख्य दोषी हैं और इसलिए क्रिश्चियन गॉड ने स्त्री को कई शाप दिए हैं, उनमें से एक यह शाप भी है कि तुझे प्रसव की पीड़ा भोगनी होगी, यह तेरे पाप का दण्ड है। एबॉर्शन के जरिए स्त्री अनचाहे गर्भ के प्रसव की पीड़ा से बच जाती है, अतः वह गॉड के शाप से भी बच जाती है, जो ठीक नहीं है। वह पीड़ा तो स्त्री को भोगनी ही पड़ेगी, इस दृष्टि से भी एबॉर्शन की अनुमति समाप्त कर दी गई है। इसी सन्दर्भ में यूरोपीय स्त्री आन्दोलनों का बड़ा महत्त्व है। वे अन्यायी चर्चतंत्र के रूढ़िवाद के विरुद्ध हैं। यह वह चर्चीय रूढ़िवाद है, जो रेनेसां के बाद यूरोप में 200 वर्षों तक दबा रहा है। पर मौका पाकर उभरने लगता है। उसे शमित और नियंत्रित करने में वीर यूरोपीय स्त्रियों की स्तुत्य भूमिका रही है। ऐसी प्रबुद्ध यूरोपीय स्त्रियाँ भारतीय समाज की और विश्व मानवता की सच्ची मित्र हैं।

इसी प्रकार न्यू साइंस और पर्यावरण आन्दोलन विश्व मानवता के मित्र हैं। उनसे घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध विकसित किए बिना आप भारत में कोई नई व्यवस्था नहीं ला सकते। परन्तु डॉ. लोहिया के उत्तराधिकारियों में से कितने हैं, जो इन चारों समूहों के बारे में सजग और मैत्रीपूर्ण हैं, यह विचारणीय है।

राजशास्त्र के क्षेत्र में तो कुछ कहने योग्य है ही नहीं। भारतीय संविधान आखिरकार कतिपय राजनीतिज्ञों द्वारा रचित एक दस्तावेज है, भले ही वह इंडिया एक्ट, 1935 का ही संशोधित रूप हो। यह संविधात 'एंग्लो-सेक्सन लॉ' के एक हिस्से की नकल है। पर इसी लॉ के वृहत्तर हिस्से इसमें से छोड़ दिए गए हैं। मसलन, क्राउन या राष्ट्राध्यक्ष का बहुसंख्यकों के धर्मपंथ का वैधानिक संरक्षक होना, पूरे देश में फैले बहुसंख्यकों के धर्मतंत्र को वैधानिक संरक्षण देना, उनके चुने गए धर्माचार्यों की, उनकी ही अपनी धर्मसभा की संस्तुतियों के अनुसार हाउस ऑफ लार्ड्स (राज्यसभा) में नियुक्ति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के चयन मण्डल में बहुसंख्यकों के धर्माचार्यों का प्रतिनिधित्व, विधि की पढ़ाई में बहुसंख्यकों के धर्म कानून का अध्ययन अनिवार्य होना, अलिखित परम्पराओं को संवैधानिक मान्यता प्राप्त होना, आदि।

किस राजशास्त्रीय बुद्धि से 'एंग्लो-सेक्सन लॉ' का एक अंश ले लिया गया और दूसरा किस बुद्धि से छोड़ा गया? इस पर राजशास्त्रीय विमर्श भारत में सार्वजनिक तौर पर कभी हुआ ही नहीं। लोहिया होते तो बाद में अवश्य करते। वह केवल 57 वर्ष की वय में चले गए। 24 वें वर्ष से ही उन्हें विदेशी शासन के विरुद्ध तथा 38 वें वर्ष से कांग्रेसी शासन के विरुद्ध लड़ना पड़ा। बाद में समय मिलने पर वे राजशास्त्र का विशद अध्ययन करने ही वाले थे। राज्य क्या है? वह किसका प्रतिनिधि है? समाज क्या है? समाज और राज्य का परस्पर सम्बन्ध क्या है? राष्ट्र और राज्य का परस्पर सम्बन्ध क्या है? राज्यशास्त्र के इन गम्भीर प्रश्नों पर लोहिया के किसी उत्तराधिकारी समूह ने चर्चा नहीं की। सच्चिदानन्द सिन्हा ने 'सोशलिज्म एंड पावर' पुस्तक में इस पर गहराई से प्रकाश डाला था और अनेक प्रश्न उठाए थे, जिन पर कभी ज्यादा सार्वजनिक विमर्श नहीं हुआ।

कम्युनिस्ट चिन्तन में राज्य प्राप्ति के एक औजार के रूप में पार्टी है। पार्टी की एक रणनीति के रूप में, मास मोबिलाइजेशन के उत्प्रेरक के रूप में सार्वजनिक तौर पर कहने को विचार हैकतिपय मोहक आदर्श, भविष्य में कभी धरती को स्वर्ग बनाने की उद्घोषणा, अन्याय और शोषण की जड़ों को मिटा डालने के लिए क्रान्ति की जरूरत, आदि-आदि। यह सब वस्तुतः और व्यवहारतः पार्टी को राज्य की प्राप्ति करा डालने के लिए ही है। क्रान्ति एक कूट पद है, जिसका वास्तविक व्यावहारिक अर्थ हैकम्युनिस्ट पार्टी को राज्य की प्राप्ति। पार्टी वर्ग की बात करती है, परन्तु वर्ग क्या है, इसकी कोई भी परिभाषा मार्क्स ने नहीं दी है और आज तक उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। परिणाम यह है कि अन्ततः कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में खड़े व्यक्ति ही शोषित वर्ग या सर्वहारा हो जाते हैं और कम्युनिस्ट पार्टी के विरोध में खड़े व्यक्ति ही शासक वर्ग के प्रतिनिधि या एजेण्ट कहलाते हैं।

भारत में यह स्थिति स्पष्ट है। यहाँ श्री जवाहरलाल नेहरू से लेकर अनेक शीर्षस्थ सत्तारूढ़ व्यक्तिप्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल, विश्वविद्यालयों के कुलपति तथा प्राध्यापक, बड़े-बड़े सम्पादक, सांसद, विधायक, मंत्री, आकाशवाणी-दूरदर्शन सहित मीडिया के दिग्गज पदाधिकारी, निरन्तर भारी सरकारी पुरस्कार तथा सेठों से पुरस्कार पा रहे लेखक-कवि-नाटककारवे सभी जो कम्युनिस्ट पार्टी के पक्ष में हों, वे शोषित वर्ग के प्रतिनिधि कहे-माने-बताए जाते हैं। उनके विरुद्ध जो भी होवह किसान जो चन्दे में भारी रकम न दे या पार्टी के अनुचित दबाव को न माने, वह नेता जो पहले सोवियत संघ और अब चीन का भक्त न हो, तथा अमेरिका का बात-बात में विरोध न करे, वह सम्पादक जो अन्य लोगों के भी विचारों को पर्याप्त स्थान दे, वह अध्यापक और लेखक जो भारतीय इतिहास व साहित्य को भारतीय दृष्टि से पढ़ाए या लिखाएये सब कम्युनिस्टों द्वारा शासक वर्ग के प्रतिनिधि कहे-बताए जाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता प्राप्ति में सहायता देना ही सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति है। वर्ग

की कोई स्पष्ट परिभाषा न होने से वर्ग शब्द का ऐसे ही मनमाने अर्थों में प्रयोग होता है।

राजशास्त्र पर गम्भीर विचार न होने से ऐसी ही मनमानियाँ चलती हैं। 'जाति' संविधान में अन्य पिछड़ा वर्ग तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति के सन्दर्भ में एक मान्य वैधानिक इकाई है, परन्तु वैसे जाति को कोई विधिक इकाई नहीं माना गया है। अतः जनगणना में जातिवार जनगणना नहीं होती। इससे विचित्र अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है। विधिक स्तर पर शासन जाति को मानता है और नहीं भी मानता है। आरक्षण सहित विविध शासकीय नीतियों का कोई वस्तुनिष्ठ आधार स्पष्ट नहीं हो पाता। इसके कुछ उदाहरण लेंश्री आई.डी. सिंह यादव ने दो खण्डों वाला एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है 'यादवाज थू द एजेज'। इसमें आभार प्रदर्शन में सभी दलों के प्रमुख यादव नेताओं का उल्लेख है कि इन सबको शोध की जानकारी है और उनके द्वारा निष्कर्षों का अनुमोदन भी है। पुस्तक में दिखाया है कि 'वैदिक काल से 18 वीं शती ईस्वी तक यादवों ने भारत के विशाल क्षेत्र में राज्य किया और उनके पिछड़ेपन का कारण मुस्लिम आक्रामकों से हुई पराजय में निहित है।' जबकि ओ.बी. सी. के पिछड़ेपन का आधार समाज व्यवस्था में अमुक समूहों की उपेक्षा बताया गया है। जनगणना में जातिवार भी सम्पत्ति गणना हो, यह माँग मैं वर्षों से उठा रहा हूँ। इस विषय पर जनसत्ता, हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स में, मेरे कई लेख 1991 के पूर्व तथ्यों के साथ छपे, परन्तु इसे व्यापक जनसमर्थन तो नहीं मिल पाया, क्योंकि राजनेताओं ने उसे उठाने योग्य नहीं माना। मंडल-आयोग की रिपोर्ट पर मैंने एक अखिल भारतीय गोष्ठी भी की थीगाँधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में जिसमें श्री वी.पी. सिंह, शरद यादव, हुकुमपाल सिंह यादव, रघुवंशप्रसाद सिंह सहित कांग्रेस और समाजवादी धारा के अनेक दिग्गज राजनेता आए थे; रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, आदि बड़े लेखक, राजेन्द्र माथुर प्रभृति कई बड़े पत्रकार आए, सहभागिता की, जिसमें तथ्यों को रखा गया। पर किसी ने तथ्यों के आधार पर अपनी पुरानी राय नहीं बदली। अर्थात् आपकी राय किसी तथ्य पर नहीं, समीकरण पर आधारित है।

आप पिछड़ेपन का आधार यदि किसी जाति की समाज में स्थिति मान रहे हैं, तो भारत की जातियों के इतिहास को भी सही-सही जानना और पढ़ना होगा तथा वर्तमान जातिवार सम्पत्ति-स्थिति भी स्पष्ट करनी होगी। अनुसूचित जातियों के आरक्षण का आधार अस्पृश्यता के रूप में किया गया भीषण अन्याय था, जो कि सभी वर्णों के सभी समूहों ने भारतीय समाज के इस छोटे से (तब ढाई प्रतिशत) समूह के साथ किया था। बाद में कथित अस्पृश्यों के साथ कई अन्य जातियों को मिलाकर अनुसूचित जाति का वर्ग रचा गया। उसकी भी कुल आबादी हिन्दुओं का 14 प्रतिशत थी। यानी कुल सप्तमांश, जिसके लिए शेष छहों भाग जिम्मेदार रहे हैं। डॉ. लोहिया ने समता और न्याय की तीव्र आकांक्षा से 'पिछड़े पावें सौ में साठ' की नीति दी। इस

पिछड़े में समस्त स्त्रियाँ, समस्त हरिजन और वनवासी तथा अल्पसंख्यक विशेषतः पिछड़े मुसलमान शामिल थे। उसका तर्क यह बनता था कि हरिजनों और स्त्रियों के साथ कई शताब्दियों से, वनवासियों के साथ मुस्लिम काल से और मुसलमानों के साथ अंग्रेजी राज्य के दौर से जो अन्याय हुए हैं, उन्हें भारत का स्वस्थ उदार समतामूलक लोकतांत्रिक समाज शीघ्रता से दूर करना चाहता है। यह समाज के लिए गौरव और गरिमा की बात थी।

परन्तु यदि कोई मुसलमान या पिछड़े स्वयं को भारत का कम से कम एक हजार वर्षों तक शासक रह चुके समूह बताएं, तब उनके आरक्षण का आधार? यदि आधार आर्थिक स्थिति है, तब आर्थिक आधार बनेगा, जातिगत या सामुदायिक नहीं। यदि जातियों को समाज की प्रमुख आधारभूत इकाई आप विधिक स्तर पर मान लेते हैं और इसके पक्ष में कोई ऐतिहासिक साक्ष्य न मानने पर भी मान लेते हैं तथा आरक्षण को इन मूलभूत इकाइयों के साथ न्याय की अनिवार्य शर्त मानते हैं, तो फिर सर्विसेज का जातिवार कोटा तय कर दीजिए। किसी एक सिद्धान्त से तो चलिए। यदि आरक्षण करुणा और न्याय की उदात्त भावना से प्रेरित है, जो कि वह है, तब ऐसे उदार, करुणामय समाज का अभिनन्दन कीजिए। कोई एक आधार तो तय करिए। आरक्षण भी ठीक है, समाज की रात-दिन निन्दा-भर्त्सना भी ठीक है, लानत-मलामत ही उचित है, यह किस प्रकार का विचार है? इस विचित्र व्यवहार का आधार क्या है? इन सब मुद्दों पर विचार आज बन्द है।

क्या अब राजनीति केवल नारों की होगी? केवल नारों की राजनीति किस चित्त-दशा की उपज है? उद्विग्न, क्षुब्ध, उत्तेजित, आवेश-ग्रस्त, राग से आकुल, लोभ से विकल, कुटिल चित्त की। ऐसे चित्त की किन्हीं उदात्त लक्ष्यों से क्या सम्बन्ध? डॉ. लोहिया तो उदात्त चित्त, उदात्त हृदय महापुरुष थे। उनके प्रति विराट जनसमर्थन श्रेष्ठ राष्ट्रीय भावों से उपजा समर्थन था। जरा डॉ. लोहिया के प्रमुख अनुयायी नेताओं की सूची बनाकर देख लीजिए। उसमें तथाकथित ऊँची जाति के तत्कालीन युवजनों की बहुलता मिलेगी, क्योंकि वे सभी अपने सम्पूर्ण समाज एवं देश से प्यार करते थे, करते हैं। केवल नारों की राजनीति को समर्थन देने पर समाज के अलग-अलग तबकों में 'ब्लैक-पैशंस' अनुचित आवेग ही जगेंगे।

गाँधी और लोहिया का मनुष्य मात्र की, विशेषतः भारतीय जन-सामान्य की अन्तर्निहित अच्छाई में अडिग विश्वास था। वे समाज में अनुचित आवेग जगाकर, 'ब्लैक पैशंस' जगाकर राजनीति नहीं करते थे। सत्य, समता, न्याय, उदात्त हृदय, करुणायें उनके बल थे। करुणारहित क्रोध की बात तो डॉ. लोहिया ने कभी नहीं की। राजनीति में से करुणा और सत्यनिष्ठा यदि अनुपस्थित रहनी है, तब वह मार-काट, लूट-पाट का संगठित शास्त्र और पापपूर्ण पंथ मात्र है। तब विश्व-मानवता, समता, न्याय आदि केवल कूट पद होकर रह जाते हैं, जिनका वास्तविक अर्थ

सम्बन्धित लोग ही जानते हैं। फिरंगी लुटेरे और समुद्री डकैत भी ऐसे ही कुछ बड़े-बड़े शब्द बोलते थे। इसी प्रकार अपने पार्टी-एजेंडे के प्रति भक्ति या मतवाद के प्रति मानिए, राष्ट्रभक्ति यह नहीं है। देश की विद्या, संस्कृति और पुरुषार्थ-परम्परा के प्रति श्रद्धा ही राष्ट्रभक्ति है।

जीवविज्ञान और भौतिकी के क्षेत्र में न्यू साइंस की खोजों का फ्रिज्जाफ काप्रा, जेम्स लवलाक, रूफर्ट शेल्ड्रेक, नार्मन मायर्स, ग्रेगरी बेटेसन, थामस कून, जेम्स क्लेटन ग्लेन, जेम्स राबर्टसन, जॉन बट्टन तथा हेजेल हेंडरसन ने मानविकी विधाओं में उनकी 'एप्लीकेबिलिटी' की सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। इनका संज्ञान लोहिया के उत्तराधिकारी अवश्य लें, यही स्वाभाविक है। गाया थीसिस, मार्फिक रेजोनेन्स थीसिस, क्वाण्टम भौतिकी की खोजों, ऊष्मागतिकी के द्वितीय नियमलों ऑफ एन्ट्रॉपी की खोज आदि ने नए चिन्तन के द्वारा खोले हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण का अद्वितीय एवं युगान्तकारी व्याख्यान 'फ्राम सोशलजिज्म टू सर्वोदय' मुख्यतः क्वाण्टम भौतिकी की तब तक हुई खोजों पर ही विशेषतः केन्द्रित था। उन खोजों ने जे. पी. की वैचारिक दुनिया पूरी तरह बदल दी। चार साल पहले मार्क्स के चिन्तन का विरोध करने के कारण लोहिया को पार्टी से निकालने का प्रस्ताव लाने वाले जे.पी. क्वाण्टम भौतिकी की खोजों को पढ़कर 1956 से क्रमशः लोहिया की भाषा बोलने लगे। हालाँकि वे नाम गाँधी-विनोबा का लेते रहे। परन्तु विनोबा को केवल संस्कृत के शास्त्रों का ज्ञान था। अन्य विषयों में उनमें किशोरों का-सा उत्साहमात्र था। ज्ञानपूर्वक विश्व के विषय में विवेचना गाँधी-लोहिया तथा श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, वीर सावरकर आदि ने भी किया है। विनोबा सदाचारी साधु थे। विचारक नहीं। कभी-कभी विदूषक अवश्य हो जाते थे।

फ्रिज्जाफ काप्रा ने 'द र्टनिंग प्वाइन्ट' और 'ताओ ऑफ फिजिक्स' में जो कुछ प्रतिपादित किया, वह अपनी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के बल पर डॉ. लोहिया विज्ञान की ही भाषा में 20 वर्ष पूर्व ही कह चुके थे। यही कि, 'क्षण प्रवाह भी है, अनन्त भी'। भारतीय पारम्परिक भाषा में इसे कहेंगे कि युगों का उतार-चढ़ाव, कालप्रवाह अपनी जगह सत्य है, पर महाकाल सदा सर्वत्र विद्यमान हैं। उनकी सम्यक साधना से, समुचित क्रिया-रूपों एवं पुरुषार्थ-रूपों के द्वारा कभी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन में श्रेष्ठ समय आ सकता है। इसे ही 'राजा कालस्य कारणम्' कहा गया है। यहाँ राजा से आशय सबके प्रिय जन प्रतिनिधि से ही है, क्योंकि जो सबके मध्य शोभित हो (राजति/राजते), इसी धातु से राजा शब्द बना है। इसी अर्थ में गाँधी जी जन-मन के राजा थे। उन्होंने बर्बर, पैशाचिक ब्रिटिश शासन के बीचोबीच भारतीय समाज में सत्यनिष्ठा, सदाचार, सादगी, संयम, अपरिग्रह से भरे सामाजिक जीवन का सतयुग ला दिया और 'राजा कालस्य कारणम्' का अर्थ सिद्ध कर दिया। डॉ. लोहिया ने यूरोपीय वामपंथ और यूरोपीय औपनिवेशिकतावाद के सम्मिश्रण से निर्मित नेहरू-राज

में देश के करोड़ों लोगों के भीतर समता, उदारता, न्याय, देशभक्ति और रामायण मेला जैसी अनेकों सांस्कृतिक गतिविधियों का उत्साहपूर्ण परिवेश ला दिया। इसी अर्थ में लोहिया भी राजा थे और जिन्हें डॉ. लोहिया प्यार से तथा थोड़े ब्यंग से 'राजा साहेब' कहते थे, वे लोकनायक भी, कम से कम 1974 से 80 तक भारत के असली राजा इसी अर्थ में थे कि उन्होंने समाज में निर्भयता और सम्पूर्ण क्रान्ति की भावना का संचार कर दिया। क्या डॉ. लोहिया के उत्तराधिकारियों में से कोई ऐसा राजा उभरेगा? क्या राजशास्त्र, इतिहास, दर्शन और अर्थशास्त्र में वे काम कभी होंगे जो डॉ. लोहिया ने चाहे थे। अभी तो ऐसी नियति नहीं है। डॉ. लोहिया के बाद मधु लिमए विमूढ़ 'राष्ट्र-राज्य' (नेशन-स्टेट) वादी हो गए। उनकी यूरोक्रिश्चियन अवधारणाओं से बंधकर, उसे ही देश के लिए श्रेष्ठ तंत्र मानकर, उन्होंने जनता पार्टी को तोड़ दिया। रा. स्व. संघ के प्रति ओछा घृणा अभियान छेड़ दिया। जे. पी. इससे दुखी थे। मैंने मधु जी की पहल पर तीखी चोट की और लिखा "विकल्पवादियों का विलाप : तीसरी शक्ति का हल्ला।" उसे अस्वस्थता में भी जेपी ने पढ़ा और अत्यंत प्रसन्न होकर कुमार प्रशांत को समग्रता में छापने के लिए दिया। वह लेख छपा। मधुजी का यह बड़पन था कि उनके बाद भी हममें आत्मीयता बनी रही। परन्तु मधु जी अधिकाधिक मार्क्सवादी होते गए; किशन जी भी। डॉ. लोहिया का वैचारिक प्रवाह कहाँ गया?

यहाँ यह स्मरण कर लेना चाहिए कि डॉ. लोहिया अत्यन्त सफल राजनेता थे। उनके लक्ष्यों की विराटता को देखते हुए और उसके समय की प्रतिकूल परिस्थितियों, नेहरू का देशव्यापी मायावी प्रभाव, कांग्रेस के नाम का तब तक छाया जादूइन सबको देखते हुए उनकी सफलता आश्चर्यजनक है। बमुश्किल 10 हजार प्रमुख समाजवादी कार्यकर्ता देशभर में थे और 1962 से 1967 के 5 वर्षों की अल्पावधि में डॉ. लोहिया की नीति और कार्यक्रम तथा नारे देशभर में गूँजने लगे। अत्यन्त साधारण परिवेश से उभरे लोगों को उन्होंने प्रान्तीय और राष्ट्रीय नेता बना दिया। कुछ वर्षों के लिए देश भर में सभी प्रमुख बौद्धिक डॉ. लोहिया के विचारों के ही समर्थक थे। जहाँ देखिए, उनके ही विचारों की धूम थी। इससे बड़ी राजनीतिक सफलता और क्या हो सकती है। प्रतिभाएँ अपने लिए साधन स्वयं ढूँढ लेती हैं। आशा है कि लोहिया की परम्परा में ऐसी प्रतिभाएँ फिर उभरेंगी। आज नहीं तो कल तप, स्वाध्याय, अंतर्दृष्टि और गहरी संवेदनशीलता से ही यह सम्भव होगा।

गुरु नानक : साधना मार्ग और विद्रोह की भूमिका

महीप सिंह*

मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन के दो स्वरूप-निर्गुण और सगुण, केवल इस दृष्टि से ही भिन्न नहीं है कि वे ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं में अन्तर रखते हैं। वस्तुतः निर्गुण और सगुण भक्तों की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा की भिन्नता बहुत दूर तक नहीं जाती। थोड़े से प्रारम्भिक मतभेद के पश्चात दोनों श्रेणियों के भक्त कवि इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि निर्गुण-सगुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप हैं

अविगतो निरमाइलु उपजे निरगुण से सारगुण थीआ।

(गुरु नानक-सिध गोसटि)

सगुनहि अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।

(तुलसीदास-रामचरित मानस)

निर्गुण और सगुण कवियों का मूल अंतर उनकी जीवन-दृष्टि में है। हमारे देश की चिन्तन धारा में दो प्रवृत्तियाँ समानान्तर चलती रही हैं। एक प्रवृत्ति वह है जो अपनी सभी तत्कालीन समस्याओं का समाधान परम्परानुमोदित, शास्त्रोक्त ढंग से निकालने का प्रयत्न करती है। प्राचीन जीवन मूल्यों में आस्था रखकर, परिवर्तित समय में जीवन-मूल्यों में नितान्त आवश्यक संशोधन भी 'श्रुतिसम्मत' हो ऐसा आग्रह उनका बराबर बना रहता है। दूसरी प्रवृत्ति में स्वतन्त्र चिन्तन का विशेष महत्त्व है। परम्परा से प्राप्त धारणा को वह अपनी पृष्ठभूमि तो बनाना चाहती है परन्तु उसके साथ बँधकर चलना उसे स्वीकार नहीं है। उसका आधार उसका अपना अनुभव और अपना विवेक है।

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आखन की देखी।

(कबीर)

* डॉ. महीप सिंह, एच108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली110026.

जिहो डिट्ठा तिहो किहा

(गुरु नानक)

मध्य काल की सगुण और निर्गुण भक्तिधाराएँ इन दो प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सगुण भक्त कवियों का साहित्य में कितना ही महत्त्व क्यों न हो, अपने युग की समग्र चेतना को आत्मसात कर, उसे युगीनबोध से सम्पन्न कर, समस्त अवनतिमूलक रूढ़ियों, अंधविश्वासों का खंडन कर मनुष्य के हाथ में सत्यासत्य को परखने का विवेक दीप निर्गुण सन्तों ने ही दिया था। निर्गुण धारा के संत युग-सत्य के प्रचारक थे। युगीन परिस्थितियों, गम्भीर मनन, चिन्तन एवं पर्यटन से प्राप्त अनुभव तथा परम्परा से आए बहुत कुछ को अस्वीकार करने, बहुत कुछ का खंडन करने और बहुत कुछ को संशोधित करने की उनमें शक्ति थी।

निर्गुण कवियों ने सत्य का प्रचार किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए काव्य का सृजन किया। वे अपने उपदेश केवल थोड़े से शिक्षितों के लिए ही सीमित नहीं करते थे, उनका संदेश उन लाखों-करोड़ों सामान्य जनो के लिए था जिनमें शास्त्रों के अध्ययन करने की क्षमता नहीं थी। निर्गुण आन्दोलन मध्ययुग की सबसे बड़ी सामाजिक-धार्मिक (और अन्ततोगत्वा राजनीतिक) क्रान्ति थी।

गुरु नानक ने बड़ी गहराई से पहचाना कि उनके समसामयिक समाज को अतीत की परम्परा के रूप में जो कुछ भी प्राप्त हुआ है उसका वास्तविक संकट कहाँ है? इस सन्दर्भ में उन्होंने कुछ निष्कर्ष निकाले।

अपनी सांस्कृतिक विरासत का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो उपयोगी है और उसकी रक्षा वांछनीय है। अपनी भाषा भूल जाने वाले सजातीय को फटकारते हुए उन्होंने कहातूने अपनी भाषा छोड़कर दूसरों की भाषा ग्रहण कर ली है

खत्रीया तु धरमु छोडिया मलेठ भाखिया गही।

शासकों की कृपा प्राप्त करने के लिए उनके जैसे नीले वस्त्र पहनने वालों को प्रताड़ित करते हुए उन्होंने कहाइन्होंने नीले वस्त्र पहनकर अपना रहन-सहन तुकों और पठानों जैसा कर लिया है।

नील वस्त्र ले कपड़े वहिरे तुरक पठाणी अमलु कीआ।

(वार आसा)

उस युग में, जब विदेशी प्रभाव के कारण लोग अपने 'स्वत्व' को भूल रहे थे, गुरु नानक ने लोगों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण पैदा किया। उनकी भाषा, उनकी लिपि, उनकी विचार-पद्धति, उनकी आस्था के शब्द गुरु नानक की कविता के माध्यम से सामान्य जन के पास पहुँचे और उन्हें लगा कि वे राजनीतिक दृष्टि से चाहे बहुत कुछ

खो चुके हों परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उनके पास बहुत कुछ है जिसके आधार पर वे स्वाभिमान से जी सकते हैं।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इस कार्य में गुरु नानक ने मिथ्याडम्बर को कभी प्रश्रय नहीं दिया। परम्परागत मान्यताओं, आस्थाओं और मूल्यों का निरन्तर परीक्षण और संशोधन ही उनकी उपादेयता को बनाए रख सकता है। अंधानुगमन में व्यक्ति सार-तत्त्व खो देता है और अनेक प्रकार के पाखंडों और विसंगतियों का शिकार हो जाता है। ऐसी ही विसंगति के शिकार एक हिन्दू कर्मचारी को फटकारते हुए उन्होंने कहा थातुम गऊ ब्राह्मण पर कर लगाते हो और गोबर का सहारा लेकर तर जाना चाहते हो। धोती, तिलक और माला धारण करते हो और धान मलेच्छों का खाते हो। घर के अन्दर पूजा करते हो और बाहर शासकों को प्रसन्न करने के लिए कुरान पढ़ते हो। यह सब पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते?

गऊ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरण व जाई ।
धोती टिका तै जपमाली धानु मलेछां खाई ॥
अन्तर पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई ॥
छोडहले पखंडा । नामि लइए ताहि तरंदा ॥३३॥

(आसा दी वार)

सम्पूर्ण निर्गुण काव्य कथनी और करनी की एकता पर बल देता है। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' यह सूक्त मानो निर्गुण दृष्टि का प्रतिनिधि वाक्य है। कबीर ने आसन लगाकर बैठे, लम्बी माला जपते पंडित से कहा कि ऊपर से तुम चाहे जैसा वेश धारण करो, तुम्हारे अन्दर जो कपट की कतरनी है, ईश्वर उसे भली प्रकार देख रहा है।

पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है ।
अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है ॥

कथनी और करनी में आ जाने वाले अन्तर को युग के सभी मार्गदर्शकों ने देखा और उस अन्तर को मिटाने पर बल दिया। परन्तु नियति का यह विचित्र विद्रूप है कि यह अन्तर कभी घटा नहीं, बल्कि बढ़ता ही गया है। गुरु नानक ने इस बात को बहुत अधिक गहराई से अनुभव किया था। उन्होंने अनुभव किया कि 'करनी' के विषय में कहा तो जाता है परन्तु इसे सत्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र ही माना जाता है इसलिए अधिक आग्रह सत्य की व्याख्या पर ही लगा रहता है। उन्होंने कहासत्य सबसे ऊपर है किन्तु उससे भी ऊपर है सत्याचार। सत्य आचरण स्वयं सत्य से ऊपर है अर्थात् साधन साध्य से भी बड़ा है, इस बात का उद्घोष उस युग में गुरु नानक ने ही इतने अधिक आग्रह से किया

सचहु औरै सभु को ऊपरि सचु आचार ॥
(सिरी राग)

गुरु नानक का यह आग्रह एक उद्घोष तक ही सीमित नहीं रहा, उनकी वाणी में जगह-जगह पर इसका अनुमोदन किया गया है। उन्होंने कहापढ़ना ही पर्याप्त नहीं है, उसे उतनी गहराई से आत्मसात करना भी आवश्यक है। इसलिए उन्होंने कहायदि बौद्धिक पूर्णता को प्राप्त करना है तो उसमें 'करनी' बहुत आवश्यक है

पड़िआ बूझै सो परवाणु ॥

कितना भी ऊँचा ज्ञान क्यों न हो, करनी के अभाव में वह घटता ही जाता है। जो स्वयं झूठ बोलते हैं, दूसरों का हक छीन लेते हैं और दूसरों को उपदेश देते घूमते हैं, ऐसे लोग स्वयं तो ठगे ही जाते हैं, उनके साथी भी लुट जाते हैं। यदि अच्छे कर्म नहीं हैं तो केवल बड़ी-बड़ी बातें करने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता।

गुरु नानक साधक के हाथ में रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, बिना समझे-बूझे शास्त्र वचनों की डोर नहीं पकड़ाते। वे उसके हाथ में ज्ञान का दीपक देते हैं जिसके प्रकाश में वह सत्यासत्य का निर्णय कर सके। वे कहते हैंपहले तथ्य को अच्छी तरह समझ लो, फिर उसका व्यापार करो।

मध्ययुगीन भक्ति काव्य का स्वर जिस सीमा तक दीनता, आत्म-निषेध और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति की लालसा से भरा हुआ है, उसमें अपने परिवेश की विसंगतियों और क्रूरताओं के प्रति कवि की प्रतिक्रिया ढूँढ़ निकालना आसान नहीं है। पहला प्रश्न तो यही उत्पन्न होता है कि इन भक्त कवियों में किस सीमा तक अपने चारों ओर के समाज में तेजी से घट रही घटनाओं के प्रति जागरूकता का भाव विद्यमान था और यदि यह भाव कुछ था तो उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया किस रूप में थी? 'कोउ नृप होह हमें का हानी' अथवा 'संतन को कहा सीकरी सो काम। आवत जात पनहिया टूटे बिसरि गए हरि नाम', के माध्यम से जो प्रतिक्रिया व्यक्त होती है, उसमें अपने चारों ओर के व्यापक परिवेश के प्रति सक्रिय जागरूकता की अपेक्षा उपेक्षा या निर्लिप्तता का भाव ही अधिक है।

इस दृष्टि से गुरु नानक के काव्य का स्वर भक्ति काल के मूल स्वर के साथ बहुत दूर तक चलता हुआ अधिक व्यापक और परिवेश के प्रति जीवन्त प्रतिक्रियाओं से भरा हुआ है, जहाँ वे कहते हैंआज के राजे व्याघ्र के समान हिंसक हैं, उनके सामंत कुत्तों के समान लालची हैं और शांत जनता को बिना किसी कारण पीड़ित करते रहते हैं। उनके नौकर अपने पैरों के नाखूनों से लोगों को जख्मी करते रहते हैं और उनका लहू कुत्तों की तरह चाट जाते हैं। जहाँ इनके कर्मों की परख की जाएगी, वहाँ इनकी नाक काट ली जाएगी

राजे सींह मुकदम कुत्ते ।
जाई लगाइन बैठे सुत्ते ।
चाकर नहंदा पाइनिह घाउ ।

रतु वितु कुतिहो चटि जाहु ।
जिये जींआ होसी सार ॥
नकीं बड़ो लाइत बार ॥

अपने समय के राजाओं, सामन्तों, राज-कर्मचारियों द्वारा निरीह जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों पर इतना तीव्र रोष व्यक्त करने वाले गुरु नानक जब इस स्थिति से अधिक द्रवित हो उठते थे तो वे अपना रोष व्यक्त करने उसके दरबार में पहुँच जाते जिसके प्रति रोष व्यक्त करने में सभी अपने को असमर्थ समझते हैं। बाबर ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। चारों ओर मची भयंकर मार-काट में देश की जनता पीड़ित होने लगी। गुरु नानक के ही शब्दों में जिन स्त्रियों के सिर में सुन्दर पट्टियाँ शोभित होती थीं, जिनकी मांग में सिन्दूर भरा हुआ था, अत्याचारियों ने उनके केश काट डाले और उनको धूल में इस तरह घसीटा कि उनके गले तक धूल भर गई। जो महलों में निवास करती थीं, अब उन्हें बाहर बैठने की जगह भी नहीं मिलती। विवाहित स्त्रियाँ जो अपने पतियों के पास सुशोभित थीं, जो पालकियों में बैठकर आई थीं, उन पर लोग जल-न्यौछावर करते थे, बहुमूल्य रत्नों से जड़े पंखे आसपास झूलते थे, उन पर लाखों रुपयों की वर्षा होती थी, मेवे खाती थीं, सेजों पर रमण करती थीं, अब उनके गले की मोतियों की माला टूट गई हैं और उसके स्थान पर अत्याचारियों ने रस्सियाँ डाल दी हैं। धन और यौवन ने उन्हें अपने रंग में रंग रखा था, अब ये दोनों उनके बैरी हो गए हैं। सिपाहियों को आज्ञा मिली और वे उनकी इज्जत लूटकर चलते बने।

जिनि सिरि सोहनि पट्टीआं मांगी पाई संधूर ।
से सिर काती मुनीअन्हि गल चिवि आवै धूड़ि ॥
महला अंदरि होंदिआ हुणि बहणि न मिलह हदूरि ॥1॥
जदहु सीआ वीआहीआं लाड़े सोहनि पास ॥
हीडोली चढ़ि आईया दंद खंड कीते रासि ॥
उपरहु पाणी वारीऐ झले झमकनि पासि ॥2॥
इकु लखु लहनि बहिठीआ लखु लहनि खड़ीआ ॥
गरी छुहारे खांदीआ माणिह सेजड़ीआं ॥
तिन गलि सिलका पाइआ तुटनि मोतसरीआ ॥3॥
धनु जोबनु दुइ बैरी होए, जिनी रखे रंगु लाइ ॥
दूता नो फुरमाइआ लै चलै पति गवाइ ॥

अब चारों ओर ऐसी करुणाजनक स्थिति उत्पन्न हो गई तो गुरु नानक ने ईश्वर को ही संबोधित करते हुए कहा परमात्मा, बाबर, ने खुरासान पर आक्रमण किया,

परन्तु तुमने उसकी रक्षा कर ली और हिन्दुस्तान को उसके आक्रमण से आतंकित कर दिया। तुम स्वयं इस स्थिति को उत्पन्न करते हो, परन्तु अपने को दोष न देने के लिए तुमने मुगलों को यमदूत बनाकर इस देश पर आक्रमण करा दिया। चारों ओर इतनी मार-काट हुई कि लोग त्राहि-त्राहि कर रहे हैं और तुम्हारे मन में इन निरीह जनों के प्रति जरा भी दर्द नहीं उत्पन्न हो रहा है। हे कर्ता, तुम तो सभी प्राणियों के समान रूप से रक्षक होने का दावा करते हो? एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तो मन में रोष नहीं उत्पन्न होता, परन्तु यदि शक्तिशाली सिंह निरपराध पशुओं के झुण्ड पर आक्रमण कर दे तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना चाहिए

खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ ।
आपै दीसु न देई कतरा जमु करि मुगल चढ़इआ ।
एती मार पई कुरलाणे तै की दरदु न आइआ ॥
करता तू सभना का सोई ॥
जे सकता सकते को मारे ता मनि रोसु न होई ॥1॥
सकता सींहु मारे पै वगै खसमें सा पुरसाई ॥

(राग आसा)

अपने देश पर विदेशियों द्वारा हुए अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर ईश्वर के प्रति ऐसी ताड़ना भरी शिकायत सारे भक्ति साहित्य में निश्चय ही अद्वितीय है और अनुपम भी। परन्तु गुरु नानक उन लोगों को भी क्षमा नहीं करते जिनकी चरित्रहीनता, अकर्मण्यता और ऐशपरस्ती के कारण इसे देश की ऐसी दुर्दशा हुई

रतन बिगाड़ि विगोए कुतीं मुइआ सार न काई ।

इन कुत्तों ने रत्न के समान इस सुन्दर देश को बिगाड़ कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इनके मरने के बाद, इनकी कोई खोज खबर नहीं लेगा।

परन्तु ऐसा हुआ क्यों? गुरु नानक कहते हैं यदि हम पहले से चेत जाते तो हमें ऐसी सजा क्यों मिलती। यहाँ के शासक तो सदा रंग-तमाशों में डूबे रहे। उन्हें कर्तव्य का ध्यान ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि बाबर की दुहाई चारों ओर फिर गई है। किसी को रोटी तक खाने को नहीं मिलती। मुसलमानों की नमाज का वक्त हो गया, हिन्दुओं की पूजा जाती रही। चौके के बिना हिन्दू-स्त्रियाँ अपनी शुचिता किस प्रकार बनाए रखें? जिन्हें कभी राम शब्द भी याद नहीं आया था, अब वे शासकों को प्रसन्न करने के लिए खुदा को याद करना चाहते हैं, परन्तु जालिम उन्हें खुदा भी नहीं कहने देते

आगे दे जे चेतीए तां काइतु मिलै सजाइ ॥
साहां सुरति गवाईआ रंगि तमासै चाइ ॥

बाबरवाणी फिरि गई कुइरु न रोटी खाइ ॥
इकना वखत खुआईअहि इकना पूजा जाई ॥
चउके विणु हिंदवाणीआ किउ टिके कढहि नाइ ॥
राम न कबहू चेतिओ हुणि कहणि न मिले खुदाइ ॥

(राग आसा)

गुरु नानक ने मानव-चेतना को कुण्ठित करने वाली इस कुएँ के मेढ़क वाली वृत्ति को झटकर कर उतार फेंका। यदि कोई धर्म ईश्वर की बनाई प्रकृति के सम्पर्क में आने से, संसार में फैले हुए विभिन्न धर्मों, मतों, सम्प्रदायों के व्यक्तियों से मिलने और उनसे विचार-विमर्श करने से भ्रष्ट हो जाता है तो वह स्वयं भ्रष्ट हो चुका है और उसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। गुरु नानक ने अपने जीवन के लगभग 25 वर्ष यात्राओं में गुजारे। भारत का कौन-सा भाग उनके पद-स्पर्श से अछूता रहा? लंका, तिब्बत, मक्का, मदीना, बगदाद और अफगानिस्तानवे कहाँ-कहाँ नहीं पहुँचे। कभी मक्का में मुसलमान धर्मोपदेशकों से सम्पर्क किया तो कभी सुमेरु पर्वत पर समाधिस्थ सिद्धों को बताया कि आप यहाँ मोक्ष की साधना में लीन हैं और संसार की दशा यह है कि वहाँ समय छुरी के समान है, शासकगण कसाई बन गए हैं, धर्म पंख लगाकर उड़ गया है, चारों तरफ झूठ की काली रात छाई हुई है, उसमें सच्चाई का चन्द्रमा कहीं दिखाई नहीं देता

कलि काती राजे कासाई धरमु पंखु करि उड़ारया ।
कूडु अमावस सचु चन्द्रता दीसै नाही कह चड़िया ।

(माझ की वार)

कभी वे कामरूप (असम) की जादूगरनियों के बीच विचरते रहे तो कभी पुरी जगन्नाथ जी के मन्दिर के बाहर विराटात्मा की अभिनव आरती उतारते रहे

गगन मै थालु रवि चन्दु दीपक बने ।
तारिका मंडल जनक मोती ।
धूप मलिआनलो पउणु चवरो करे ।
सगल बनराह फुलन्त जोती ।
कैसी आरती होई भवखण्डना तेरी आरती ॥
अनहता सबद बाजंत भेरी ।

(राग धनासरी)

अपनी इन यात्राओं में उन्होंने सदैव आतिथ्य ग्रहण किया भाई लालो जैसी नीची कही जाने वाली जाति के लोगों का और निर्धनों का रक्त-शोषण करने वाले मलिक भागों जैसे धनिकों के पकवानों से खून निचोड़कर दिखाते रहे।

इसीलिए जब मुट्ठी भर विदेशी सैनिकों ने आकर हमें रौंद दिया तो उन्होंने

अपनी शक्ति और सम्पन्नता के झूठे मद में डूबे हुए राजाओं से पूछातुम्हारे यह खेल, अस्तबल और धोड़े कहाँ हैं? वे भेरियाँ और शहनाइयाँ कहाँ हैं? वे तलवारें, रथ और चमकीले वस्त्र कहाँ गए? तुम्हारे दर्पण और उसमें दिखाई देने वाले बाँके चेहरे अब कहीं नहीं दिखाई देते

कहा सु खेल तबेला घोड़े कहा मेरी सहनाई ।
कहा सु तेगबंद गाडेरड़ि कहा सु लाल कवाई ॥
कहा सु आरसीआ मुँह वंके ऐथे दिसहि नाही ॥

फिर यहाँ के लोग तो अपने सुन्दर महलों, सुन्दर सेजों और सुन्दर कामिनियों के सम्पर्क में डूबे हुए थे। गुरु नानक ने उनसे पूछा“तुम्हारे वे सुन्दर घर, दरवाजे, मंडप और महल कहाँ हैं? तुम्हारे वह सुखदाई सेजरी कहाँ हैं? और वह कामिनी कहाँ है जिसके कामोन्माद के कारण तुम्हें नींद नहीं आती थी? पान-तम्बुल देने वाली हरमों में भरी औरतें कहाँ गई?”

कहा सु घर दर मंडप महला कहाँ सु बंक सराई ॥
कहा सु सेज सुखाली कामणि जिसु वेखि नींद न पाई ।
कहा सु पान तंबोली हरमा होइआँ छाई माई ॥

(राग आसा)

इस देश में अंधविश्वास भयंकर रूप में व्याप्त रहा है। सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया तो मन्दिर के पुजारियों ने बड़े विश्वास से कहाभगवान सोमनाथ अपना तीसरा नेत्र खोलकर इस अधर्मी को भस्म कर देंगे। परन्तु हुआ क्या? जब मुगलों ने आक्रमण किया तो यहाँ के पठान शासकों ने अगणित पीरों-फकीरों से उन्हें रोकने के लिए टोने-टोटके करवाए। गुरु नानक ने ऐसे अंधविश्वासियों से बड़े व्यंग्य से पूछामीर (बाबर) तुम पर चढ़ आया बताओ तुम्हारे पीरों के टोने-टोटके से क्या हुआ? तुम्हारे वज्र के समान मजबूत किले और महल जल कर राख हो गए। उन्होंने राजपुत्रों के टुकड़े-टुकड़े करके मिट्टी में मिला दिया है। तुम समझते थे कि टोने-टोटके वाले पर्वा से मुगल सिपाही अन्धे हो जाएंगे। परन्तु वहाँ तो एक भी मुगल अन्धा नहीं हुआ

कोटी हू पीर वरजि रहाए जी मीरु सुणिआ धाइआ ॥
थान मुकाम जले बिज तन्दर मुछि मुछि कुइरु रंलाइआ ॥
कोई मुगल न होआ अंधा किनै न परचा लाइआ ॥

(राग आसा)

गुरु नानक के शब्दों में सच बात यह है कि कोई भी देश अपनी अच्छाइयों को खो देने पर ही पतित होता है। मानो ईश्वर स्वयं जिसे नीचे गिराना चाहता है,

पहले उसकी सारी अच्छाइयों को उससे छीन लेता है

जिस नो आनि खुआए करता खुसि लए चंगिआई ॥

परन्तु इस देश की अच्छाइयों को, उसके गुणों को, उसकी प्रभुता को ईश्वर ने क्यों छीन लिया? उसे दलित होने के लिए, परतन्त्र होने के लिए क्यों छोड़ दिया? गुरु नानक ने कहाईश्वर तुमसे रुष्ट है, इसीलिए उसने तुम्हारी सारी अच्छाइयों छीनकर तुम्हें इस स्थिति तक पहुँचा दिया है। उसकी कृपा दृष्टि चाहते हो, तो सबसे पहले नइ नीचों को संभालो, इन्हें ऊपर उठाओ

जित्थै नीच संभालियन तित्थै नदरि तेरी बखसीस ॥

साथ ही गुरु नानक ने एक घोषणा की, मानो भारत के समाजवादी समाज के निर्माण का वह प्रथम घोषणा पत्र थानीचों में भी जो नीची जाति के हैं, उनमें भी जो नीच हैं, मैं सदैव उनके साथ हूँ। अपने आप को बड़ा कहने वालों से मेरा कोई वास्ता नहीं है

नीचां अन्दरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।

नानक तिनै कै संगि साथि वडिआ सिउं किआ रीस।

गुरु नानक ने अपने समय के समाज को, जो सम्मानहीन, लज्जाहीन होकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, झकझोर कर कहाअपना सम्मान खोकर जीना हराम है, उस जीवन को जीवित रखने के लिए जो कुछ भी खाया पीया जाता है वह बस हराम है

जे जीवै पति लथी जाई। सभु हरामु जेता किछु खाइ ॥

(राग आसा)

गुरु नानक ने लोगों को आध्यात्मिक उपलब्धि का मार्ग तो बताया ही, परन्तु उन्होंने अपने समय के समाज की जीवन्त समस्याओं की किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की। जो समाज अपने सांसारिक जीवन में पीड़ित और पददलित है वह आध्यात्मिक उन्नति को भला क्या प्राप्त कर सकेगा। गुरु नानक की वाणी अपने समाज की सुप्त-आत्मा को जागृत करने वाली सिद्ध हुई, उनके हृदयग्राही कथन भविष्य के प्रभावशाली विद्रोह की भूमिका बन गए। उन्होंने कहायदि तुम मेरे बताए मार्ग पर आना चाहते हो तो खूब सोच लो। मेरे साथ आना है तो अपना सिर हथेली पर रख लो, इस मार्ग पर पैर धरने की पहली शर्त हैसिर दे देना होगा, किन्तु उफ भी नहीं करनी होगी

जे तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिर धरि तली मेरी आउ ॥

इतु मारगि पैर धरीजै। सिर दीजै काणि न कीजै।

हिमालयी रजवाड़ों में प्रजातंत्रीय आन्दोलन की परम्परा

ए.सी. सिन्हा*

परम्परा रही है कि हिमालयी क्षेत्र प्रायः तपस्वियों और वानप्रस्थ धारियों के अतिरिक्त दुर्दान्त दुस्साहसी और पराक्रमी राजन्वियों की क्रीड़ाभूमि भी रहे हैं, जहाँ उन्होंने नए राज्यों की स्थापना की। ऐसे राज्यों में सिक्किम, भूटान और नेपाल, जिन्हें हम इस निबन्ध के सन्दर्भ में हिमालयी रजवाड़ों के रूप में लेंगे, गिनती की जा सकती है। भूतपूर्व शाहवंशी गोरखा नरेश अपने को चित्तौड़गढ़ के क्षत्रियों से जोड़ते हैं। नामग्याल वंशी नरेश हिमांचल प्रदेश के रजवाड़ों और खाम (तिब्बत) के सामन्तों से अपना उद्भव बताते हैं। उसी प्रकार आधुनिक भूटान के संस्थापक शाबदंग नवांग ने अपने को वज्रपंथी मठाधीश के राजकुमार के रूप में पेश किया। कालान्तर में इन तीनों ही राज्यों में अत्यन्त क्रूर, सामन्तशाही व्यवस्था पनपी, जिसने संस्थापकों के बंशजों को हाशिए पर ला, प्रशासन को मनमाने तरीके से चलाया। इन राज्यों की सर्ववंचित और आतंकित प्रजा प्रायः पर्यटन, शिक्षण या रोजी-रोटी की तलाश में भारतवर्ष चली जाती थी। इन रजवाड़ों की प्रजा भारत में अंग्रेजी उपनिवेश के विरुद्ध चल रही स्वतंत्रता की लड़ाई को सहानुभूति पूर्वक देखती और यथा सम्भव उसमें भाग भी लेती। इस स्वतंत्रता की लड़ाई की परिणति 1947 में स्वतंत्र भारत के रूप में हुई। परन्तु विडम्बना रही कि इन रजवाड़ों के प्रति उभरते भारतीय संघ की नीति अंग्रेजी विरासत में लिप्त हो गई। फलस्वरूप जहाँ इन रजवाड़ों की प्रजा के साथ भारत की साधारण जनता एक भाईचारा बन्ध संघर्ष में व्यस्त थीं, वहीं सरकारी तंत्र औपचारिकता और कूटनीति द्वारा सर्वसाधारण की सामुहिक उपलब्धियों को गँवा गए। यहाँ हम हिमालयी रजवाड़ों की करीब सात दशक पुरानी लोकतंत्रीय परम्परा का लेखा-जोखा लें।

* प्रो. ए.सी. सिन्हा, भूतपूर्व डीन, समाजशास्त्र संकुल, उत्तर-पूर्वी पार्वत्य विश्वविद्यालय शिलांग। वर्तमान सम्पर्क : डी 7/7331, बसन्त कुन्ज, नई दिल्ली-110070।

रजवाड़ों की स्थापना की बेजोड़ विरासत

आंतरिक पंथीय कलह से बचने के लिए 22 वर्षीय नवांग नामग्याल (1594-1651) तिब्बत से पलायन कर पश्चिमी भूटान में वज्रपंथी बौद्ध धर्म तंत्र की नींव डालते हैं। अगले 35 वर्षों के अनवरत संघर्ष के बाद वे दूर्ग-विहारों की स्थापना कर नए राज्य को स्थायित्व प्रदान करते हैं। 1651 में उनके समाधिस्थ होने के बाद अगले ढाई सौ वर्षों तक प्रायः आधे दर्जन अवतारी धर्मराजा सिंहासनारूढ हुए। परन्तु राज्य का लौकिक प्रशासन सभासदों के नामजद 'देवराजा' चलाते रहे। इसी प्रकार एक नए धर्मराज्य की स्थापना के इच्छुक तीन तिब्बती भिक्षुओं ने फुंटीशी नामग्याल, एक स्थानीय प्रभावशाली कृषक, का 1642 में सिक्किम में राज्याभिषेक किया। स्थानीय लेप्चा और किरात समुदायों के सहयोग से अगले तीन सौ वर्षों तक नामग्याल राजाओं ने सिक्किम पर राज किया। यों तो गोरखा नामक नेपाल के एक छोटे से राज्य की स्थापना द्रव्यशाह ने 1559 में की थी। परन्तु उनके वंशज, पृथ्वीनारायण शाह (1728-1775), ने नेपाल के करीब पाँच दर्जन छोटे-छोटे राज्यों को परास्त कर एक शक्तिशाली गोरखा राज्य की स्थापना अठारहवीं सदी के मध्य में की और अगले ढाई सौ वर्षों तक उनके एक दर्जन वंशजों ने नेपाल में राज्य किया, जिसका अन्त, 2008 में हुआ।

बीसवीं सदी के आते-आते इन तीनों ही रजवाड़ों में उनके संस्थापकों के उत्तराधिकारियों का पराक्रम प्रायः अस्त हो चला था। उनके स्थान पर भूटान में क्षेत्रीय राज्यपाल दुर्गाधिपति, सिक्किम में काजी सामन्त और नेपाल में राणा दरबारियों ने राज्य की वास्तविक बागडोर सम्भाल रखी थी। ये तीनों ही सत्ता सामन्त अपनी प्रजा पर एक अत्यन्त ही निरंकुश, अत्याचारी और शोषक प्रशासन अपने राजाओं के नाम पर चला रहे थे। उस पर तुरंत यह कि गान्दोक स्थित अंग्रेज पालिटिकल आफिसर (Political Officer or P.O.) सिक्किम और भूटान के लिए और काठमांडू में नेपाल के अंग्रेज Resident यथास्थिति को बनाए रखने के लिए उद्धत रहते थे। तीनों ही राज्यों में संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य-व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं थी। नेपाल और भूटान में तो सड़क बनाना भी फिजूलखर्ची माना जाता था। ये दोनों ही राज्य, अपनी एकला चलो की नीति (Policy of isolation) पर चलते रहे। फलस्वरूप वे सारी दुनिया से परे अपने आप में अजूबा बने रहे। तीनों ही राज्यों में स्थानीय रूप से दास प्रथा जारी थी। और विभिन्न प्रकार के बेगार लिए जाते थे। कोर्ट-कचहरी, पुलिस, जेल आदि की नीलामी सत्ता सामन्तों को दी जाती थी। ऐसी स्थिति में जनता अत्यन्त ही दीन हीन, प्रताड़ित, बीमार और निरक्षर थी। उसकी न तो कोई आवाज थी न तो उसका कोई पक्षधर। उसके पास बस एक ही उपाय था, अपने आततायी हुक्मरानों की नजर बचा "नीचे" मुगलान (Unclean Muslim and British India) भाग जाना

और वहाँ किसी प्रकार पेट भरना। जो भी प्रशासन के विरुद्ध चूँ करता, उसे प्रायः कच्चे चमड़े के थैले में कसकर उफनती नदी में डाल दिया जाता। फिर भी प्रतिरोध के स्वर उठे और प्रतिक्रिया हुई।

राजनैतिक सुगबुगाहट

स्वाभाविक है संचार प्रणाली, शिक्षण व्यवस्था, आवागमन के साधन एवं मौलिक अर्थव्यवस्था के अभाव में राजनीतिक चेतना सम्भव नहीं हो पाती। दूसरी तरफ उन रजवाड़ों के सत्ता-सामन्त ऐयासी, तड़क-भड़क और फजूलखर्ची की जिन्दगी जी रहे थे। कहते हैं कि लामीडेरा ग्राम प्रधान (जिन्ना, चिरांग, दक्षिण भूटान) पशुपति अधिकारी ने नियम विहीन भूटान के मुख्य प्रशासक (Bhutan Agent) राजा सोनम तोब्येल दोर्जी द्वारा ऊँची दर की भू-राजस्व देने में आनाकानी की। फलस्वरूप उसे पीटा गया, उसकी जमीन जब्त कर ली गई और उसे देश निकाला दे दिया गया। उसके वंशज असम राज्य, जिला कोकराझाड़ के ग्राम झाड़वाडी में निवास करते हैं। 1930 के दशक में दगाना जिले के दो मुखियायों ने अखिल भारत गोरखा लीग से सम्पर्क किया और जय गोरखा नामक संगठन की स्थापना की। इस बात की सुराग मिलते ही भूटान प्रशासक के पुत्र जीझी दोर्जी के आदेश पर मिशाल के बतोर महासूर छेत्री (ग्राम-संतोवे, जिला चिरांग) को कच्चे चमड़े के थैले में कशकर जीवित ही उफनती संकोश नदी में बहा दिया गया।

भूटान के दक्षिण-पश्चिमी जिले सामची के सत्ता सामन्त गरजनान गुरुंग रैयतों से वसूलकर राजस्व प्रतिवर्ष पारो दुर्गविहार में स्थित दुर्गाध्यक्ष के कार्यालय में जमा करते थे। कहते हैं कि 1930 के आसपास जब वे राजस्व के साथ पारो पहुँचे तो उन्हें छलपूर्वक मार डाला गया। माईकेल हट्ट के अनुसार गोरखा लीग के संस्थापक ठाकुर चन्दन सिंह के निकटवर्ती नेपालियों में गरजमान गुरुंग का नाम भी आता है। सामची काजी की जागीर 1950 के दशक में जब्त कर ली गई। लगभग उसी समय गरजमान के पोते, दल बहादुर गुरुंग और जी.पी. शर्मा ने गोरखा लीग, नेपाली कांग्रेस और सिक्किम कांग्रेस से सम्पर्क साधा। फलस्वरूप नवम्बर, 1952 में ग्वालपाड़ा जिला (असम) के पाटगाँव स्थान पर भूटान राज्य कांग्रेस की स्थापना की गई। उपस्थित संस्थापकों में दल बहादुर गुरुंग अध्यक्ष और जी.पी. शर्मा मन्त्री बनाए गए। अनुमान है कि चूँकि नेपाली कांग्रेस और सिक्किम कांग्रेस अपने राज्यों की राजनीतिक सरगर्मियों में पूरी तरह उलझे हुए थे, भूटान राज्य कांग्रेस को गोरखा लीग के विस्तारवादी और हवावाज तत्त्वों से तत्क्षण समर्थन मिला। यह बात इस प्रकार भी साफ हो जाती है, जब हम देखते हैं कि 1954 के सत्याग्रह की असफलता के बाद भूटान कांग्रेस का नेतृत्व दार्जिलिंग में ही आश्रय पाता है। सिक्किम में 'कुरवा बेठी', 'कालोमारी' और 'झारलंजी' नामक अत्यन्त ही क्रूर बेगार प्रथा थी, जिसका लाभ राज

परिवार, काजी सामन्त, नेपाली ठीकेदार, राजकीय अधिकारी और यहाँ तक कि प्रभावशाली पर्यटक भी उठाते थे। राज्य की आम जनता राजपरिवार, जमींदारों और पाँच मुख्य बौद्ध विहारों की रैयत थी। जमींदारों के पास पुलिस, जेल और न्यायालय के ठीके हुआ करते थे। फलस्वरूप उनका शोषण ही नहीं होता था, बल्कि उनकी शिकायतों तक को अनसुना कर दिया जाता था। इन कुरीतियों के विरुद्ध कुछ लोगों ने गांतोक में 1940 के लगभग 'सिक्किम सुधारक समाज' नामक मंच बनाया। बेगारी की प्रथा का विरोध करने के कारण समाज के अग्रणी सोनम शेरिंग की सामन्ती गुंडों ने पिटाई कर डाली। इसके विरोध में समाज के अध्यक्ष राशी शेरिंग ने सिक्किम परक कच्चा चिट्ठा लिखकर व्यवस्था की कुरीतियों को उजागर किया। लगभग उन्हीं दिनों दक्षिणी सिक्किम के तीमी-तारक स्थान पर गोवर्धन प्रधान, धन बहादुर तिवारी ने 'प्रजा सम्मेलन' नामक मंच बनाया। कालान्तर में सिक्किमी जीवन का कायाकल्प करने वाले काजी ल्हेंडुप दोर्जी खानशाह ने पश्चिमी सिक्किम के चारतुंग स्थान पर 'प्रजा मंडल' नामक सुधारवादी मंच बनाया। गांतोक स्थित प्रजासमाज की पहल पर उपरोक्त तीनों मंचों की पहली बैठक दिसम्बर 1, 1947 को आयोजित की गई और इस ऐतिहासिक पहल से उसी शाम सिक्किम राज्य कांग्रेस की स्थापना की गई।

सर्वप्रथम 1893 में नेपाल सुधारक माधवराव जोशी ने सुधारवादी पंथ आर्य समाज की स्थापना नेपाल के पोखरा और काठमांडु में करने का प्रयास किया। पता चलने पर जोशी जी को कारागार में डाल दिया गया। फिर उनका परिवार दार्जिलिंग रहने लगा। जोशी के पुत्र शुकराज शास्त्री को भगवत गीता प्रवचन करने के अपराध में जेल जाना पड़ा और प्रजा परिषद के तथाकथित षड्यंत्र के सन्दर्भ में फाँसी दी गई। स्मरणीय है कि राजाओं की क्रूरता से तंग आकर पाँच युवकों ने 1935 में नेपाल प्रजा परिषद का गठन किया। इसका सुराग मिलने पर सबों को मृत्यु दंड दे दिया गया। परन्तु परिषद अध्यक्ष टंक प्रसाद आचार्य को ब्राह्मण होने के कारण आजन्म कारावास की सजा दी गई। उसके बाद कई छोटे-छोटे षड्यंत्र हुए और उसी प्रकार कठिन दमन भी। तीर्थाटन, पर्यटन, शिक्षण व्यवसाय या अन्य कारणों से व्यवस्था विरोधी नेपाली नेपाल से सटे बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल के नगरों में संगठित हो रहे थे। गणेशनमान सिंह, कृष्ण प्रसाद भट्टराई, वालचन्द शर्मा, बी.पी. कोइराला आदि ने बनारस में नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कर रखी थी। यह सर्वाधिक संगठित और सक्रिय संस्था थी परन्तु इसे अनवरत अर्थाभाव का सामना करना पड़ता था; दूसरी तरफ राणाओं के एक वर्ग ने कलकत्ते में नेपाली प्रजातांत्रिक कांग्रेस नामक दल बना रखा था जिसके पास संगठन और लोकप्रिय नेता की कमी थी। पश्चिमी तराई में डॉ. के आई सिंह और पूर्वी तराई में गिरिजाप्रसाद कोइराला ने भी एक स्तर पर अपना मंच बना रखा था। फलस्वरूप तय हुआ कि इन संगठनों को मिलाकर एक जनतांत्रिक संगठन बनाकर राणाशाही का विरोध किया जाए। फलस्वरूप अप्रैल 1950

में कलकत्ते के टाइगर हाल सिनेमा हाल में एक कांफ्रेंस की गई। भारत के कांग्रेस समाजवादी दल के जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया ने इसका मार्गदर्शन किया। इस कांफ्रेंस से 'नेपाली कांग्रेस' का जन्म हुआ जिसके अध्यक्ष बने कारागार के कैदी टंक प्रसाद आचार्य, कार्यकारी अध्यक्ष मातृका प्रसाद कोइराला, महामंत्री बने महेन्द्र विक्रम शाह और इसका कार्यालय बनारस में खोलना तय किया गया।

प्रजातांत्रिक आन्दोलनों की पहल

अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध भारत में हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकार के आन्दोलन बड़े पैमाने पर चल रहे थे। स्वाभाविक था कि हिमालयी रजवाड़ों की नई पीढ़ी इन जनतांत्रिक उभारों से अछूती नहीं रह सकती थी। चूँकि संचार, आवागमन, व्यापार विनिमय भारत और सिक्किम में सर्वाधिक था, इस कारण भारतीय जनान्दोलन का प्रथम प्रभाव सिक्किम में देखने को मिला। उसके विपरीत, संचार, आवागमन, शिक्षण व्यापार आदि के सन्दर्भ में भूटान भारत से अलग-अलग था; इस कारण जनतांत्रिक आन्दोलन सर्वाधिक विलम्बित शिथिल और बेअसर भूटान में रहा।

सिक्किम का जनतांत्रिक आन्दोलन : प्रजा सुधारक समाज की पहल पर दिसम्बर 7, 1947 की आम सभा में उपस्थित विशाल जनसमूह को उपस्थित वरिष्ठ नेताओं के लिए सम्बोधित करना एक नई बात थी। अनुभव के अभाव में उनके भाषण बेजान, उबाऊ, दिशाहीन और प्रभावहीन सिद्ध हुए। ऐसी स्थिति में राजनैतिक इतिहासकार लाल बहादुर बास्नेत के शब्दों में एक अभूतपूर्व घटना घटी: अनुभवी वरिष्ठ नेताओं के साथ 24 वर्षीय नामची निवासी चन्द्रदास राई भी था। उसे (प्रजा सुधारक समाज के अध्यक्ष टाशी शेरिंग लिखित) 'सिक्किम का कच्चा चिट्ठा' का नेपाली अनुवाद पढ़ने को दिया गया, जिसको राई ने उत्साह के साथ मात्र पढ़ा ही नहीं; अपितु उसमें अपनी तरफ से काफी व्यंग और कटाक्ष भी भर दिए। श्री राई के प्रत्येक वाक्य पर ठहाके पड़ते और तालियाँ बजतीं। उसके भाषण के समाप्त होते-हाते स्पष्ट हो गया कि सिक्किम की उभरती राजनीति के पटल पर एक नया नेता उभरा है। स्मरणीय है कि सभी भाषण सिक्किम की जनता की भाषा, नेपाली में दिए गए थे। उपरोक्त जनसमुदाय को उद्बोधित करने वालों में सुधारक समाज के अध्यक्ष, टाशी शेरिंग, जमींदारों से प्रताड़ित सोनम शेरिंग, गेरूआ वस्त्रधारी आयुर्वेदाचार्य रायचौधरी, समाज सेविका हेलने गीरि और दार्जिलिंग में शिक्षित चन्द्रदास राई थे। अनुभवी और शिक्षित वरिष्ठ नेता टाशी शेरिंग सिक्किम राज्य कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। निम्नलिखित तीन सूत्री मांगों को लेकर पाँच सदस्यीय शिष्ट-मंडल महाराज से मिलने गया। 1. जमींदारी प्रथा का अन्त; 2. एक जनतांत्रिक और जिम्मेदार सरकार स्थापित करने के क्रम में एक अन्तरिम सरकार का गठन। 3. सिक्किम का भारतीय संघ में विलय। स्मरणीय है कि इस स्वतः प्रस्फुटित राजनैतिक उभार में सिक्किम की जिन्दगी

का हर तबका हिस्सेदार था : कृषक, पुलिस, सरकारी मुलाजिम, प्रशासन और यहाँ तक कि कुछ जमींदार भी। महाराजा ने शिष्टमंडल से उनकी मांगों पर बृहद चर्चा की। महाराजा ने जमींदारों के अधिकारों को कम करने और कालान्तर में जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन का वादा किया। अन्तरीम सरकार बनाने के क्रम में राज्य कांग्रेस से तीन नाम भेजने को कहा और चूँकि सिक्किम और भारतीय संघ अपने भविष्य के सम्बन्धों पर वार्तालाप कर रहे थे, इस कारण तीसरी मांग को तत्क्षण स्थगित कर दिया गया।

कहते हैं कि महाराजा ने उपरोक्त मांगों पर स्थानीय भारतीय पालिटिकल ऑफिसर से विचार-विमर्श किया। परन्तु भारत सरकार से कोई स्पष्ट आदेश नहीं आया। इधर महाराजा ने सामन्ती, साम्प्रदायिक और यथास्थितिवादी शक्तियों को गोलबन्द किया और अप्रैल, 1948 में 'सिक्किम नेशनल पार्टी', एक प्रतिगामी दल का संगठन किया। इस नए दल का उद्देश्य सिक्किम राज्य कांग्रेस की नीतियों का विरोध करना, यथास्थिति बनाए रखना और लोकतंत्र के विपरीत महाराजा और सामन्तशाही का समर्थन करना था। टाशी शेरिंग (राज्य कांग्रेस अध्यक्ष) ने सिक्किम नेशनल पार्टी को कांग्रेस का विपर्यय (Anti-thesis of State Congress) बताया। राज्य कांग्रेस ने जनचेतना को उभारकर अपनी राजनैतिक सुधारवादी मांगों के पक्ष में महाराजा, स्थायी पालिटिकल आफिसर और भारतीय प्रधानमंत्री तक गुहार लगाई। आन्दोलन किए, सभाएँ की, समाचार पत्रों के माध्यम से प्रचार किया। परन्तु महाराजा के आश्वासन के विपरीत परिणाम कुछ नहीं निकला। वास्तव में राजकाज से अलग महाराजा अपना अधिक समय पौराणिक और धार्मिक शिक्षण में गुजारते थे और राज-काज का वास्तविक कार्यभार महाराज कुमार देखते थे। धर्मभीरु और प्रशान्त महाराज के विपरीत राजकुमार सिक्किम की अलग पहचान बनाए रखने के ही हिमायती नहीं थे, बल्कि उनका एक अलग एजेन्डा भी था, जिसके अनुसार सिक्किम को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना था। फलस्वरूप उन्होंने सभी प्रकार के अवसरवादी, प्रतिक्रियावादी और संदेहास्पद तत्त्वों को प्रश्रय दे सिक्किम राज्य कांग्रेस की नीतियों का विरोध किया और उसकी संगठनात्मक और सामाजिक आधार को कमजोर करने की कोशिश की। अपनी गतिविधियों का लेखा-जोखा लेने के लिए राज्य कांग्रेस ने अक्टूबर 22, 1948 को नामची स्थान पर एक असामान्य सभा का आयोजन किया। आम सभा में उपस्थित जनसमूह ने उपरोक्त तीन सूत्री मांगों के प्रति प्रतिबद्धता दिखाई और माँगों के समर्थन में भारतीय संघ के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से मिलना तय किया। राज्य कांग्रेस अध्यक्ष टाशी शेरिंग और महामन्त्री चन्द्रदास राई प्रधानमंत्री नेहरू से मिले और नेहरू ने उन्हें आश्वासन दिया कि सिक्किम के भविष्य पर विचार करते समय जनता की आवाज सुनी जाएगी। राज्य कांग्रेस ने अपना पहला वार्षिक अधिवेशन रंगपो नामक स्थान पर फरवरी, 1949 में आयोजित किया। जमींदारों और प्रशासन के अवरोध और आवागमन के साधनों के अभाव के बावजूद पाँच हजार से

अधिक जनता इकट्ठी हुई। सरकार ने सभा करने की मनाही कर दी। जनसभा ने सरकारी राजस्व नहीं देना तय किया। उसके दो दिन बाद चन्द्रदास राई कैद कर लिए गए और कांग्रेस अध्यक्ष राशी शेरिंग के विरुद्ध सम्मन जारी किया गया।

दूसरे दिन हजारों-हजार लोगों ने निषेधाज्ञा भंग कर राज्य कांग्रेस के पक्ष में प्रदर्शन किया। शीघ्र ही जनक्रोध बढ़ता गया और अधिकाधिक जनता गांतोक पहुँचकर धरने पर बैठने लगी। लाचार महाराजा को चार दिनों बाद कैद नेताओं को मुक्त करना पड़ा। इस प्रकार सिक्किमी जनता को पहले-पहल अपनी शक्ति का भान हुआ। शीघ्र ही राजस्व मनाही के आन्दोलन को गति दी गई। स्थिति बिगड़ती देख गांतोक स्थित भारतीय प्रतिनिधि हरीश्वर दयाल के आश्वासन पर कि वे दोनों पक्षों को मान्य हल ढूँढ़ने में मदद करेंगे, आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। परन्तु शीघ्र ही पता चला कि दरबार सुलह के पक्ष में नहीं है। फिर क्या था? राज्य कांग्रेस के इशारे पर मई 1, 1949 को दशों हजार सत्याग्रहियों ने गांतोक राजप्रसाद के सामने धरना दिया। राजशाही के विरुद्ध नारे लगे। आतंकित महाराजा ने भारतीय प्रतिनिधि के यहाँ शरण ली। उसी पलायन के क्रम में जब महाराज कुमार स्वयं जीप को चलाते बाहर आए तो कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने जीप का रास्ता रोक लिया; उसकी पताका निकाल ली गई और राजशाही के विनाश के नारों से उनका स्वागत हुआ। फलस्वरूप लाचार महाराज कुमार पैदल ही राजमहल वापस गए। ऐसी स्थिति में भारतीय प्रतिनिधि हरीश्वरदयाल ने महाराजा को हठधर्मी छोड़ अपने पुराने वायदे के मुताबिक जनप्रिय साकार बनाने की सलाह दिया।

लाचार सिक्किम महाराज टाशी नामगमान ने मई 9, 1949 को सिक्किम की पहली जनप्रिय सरकार का गठन किया। इस मन्त्रीमण्डल में राज्य कांग्रेस के अध्यक्ष टाशी शेरिंग (मुख्यमन्त्री), उपाध्यक्ष के. लेप्चा और महामन्त्री चन्द्रदास राई के अतिरिक्त दरबार द्वारा नामजद दोर्जी दादुल और रेशमी प्रसाद आल्ले मन्त्री बनाए गए। इस नई सरकार से जनता की बेतहाशा उम्मीदें थीं, परन्तु दरबार सामन्त, नेशनल पार्टी और अन्य प्रतिक्रियावादी ताकतें कटिबद्ध थीं कि प्रजातंत्र का यह प्रयोग सफल न हो। स्वाभाविक था कि सरकार जनक्रोध के दबाव के जल्दीबाजी में बनाई गई थी। मन्त्रिमण्डल की सीमाओं, अधिकार नियंत्रण, मंत्रियों के विभागकुल भी निर्धारित नहीं किए गए थे। दूसरी तरफ सरकारी तंत्र के काम करने की विधि से मन्त्रीगण बिलकुल अनभिज्ञ थे। इस नई सरकार से जनता की इतनी न अधिक अपेक्षाएँ थीं कि शीघ्र कुछ नहीं होता देखा, जनता का सब्र टूटने लगा और वे नगर की गलियों में अव्यवस्था फैलाने लगे। अनुभवहीन मन्त्रियों ने भी कुछ ऐसे कदम उठाए जिससे अव्यवस्था फैलने लगी। दरबार के प्रति आक्रोश बना हुआ था और कांग्रेस के स्वयंसेवक नियंत्रण खोकर हिंसा, लूट, और गाली-गलौज पर उतर आते। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ तो इसी ताक में थीं कि किसी प्रकार राज्य कांग्रेस को

अकर्मण्य प्रमाणित किया जाए। फलस्वरूप दरबार ने बिगड़ती स्थिति से भारतीय प्रतिनिधियों को अवगत कराया। कहते हैं कि जून 7, 1949 को हरीश्वर दयाल, भारतीय प्रतिनिधि, ने सभी मंत्रियों को अपने कार्यालय में बुलाया और सूचित किया कि वे भारत सरकार के नाम पर उन सबों को पदच्युत करते हैं और राज्य का प्रशासन अपने हाथ में लेते हैं। इस प्रकार सिक्किम की पहली जनप्रिय सरकार 29 दिनों बाद भारत सरकार द्वारा बर्खास्त हुई।

नेपाल में प्रजातांत्रिक संघर्ष

नेपाली कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समान एक संयुक्त मोर्चा के समान थी, जिससे प्रचलित गाँधीवादी मातृका प्रसाद, सुधारवादी सामन्त सुवर्ण शमशेर, मार्क्सवादी समाजवादी विश्वेश्वर प्रसाद, साम्यवादी मनमोहन अधिकारी, अराजकतावादी डा. के आई सिंह और अन्य विचारधारा के लोग सक्रिय थे। हुआ यह कि महाराजाधिराज अपने ही प्रधानमन्त्री के बन्दी मात्र थे, वे परिवर्तन तो चाहते थे, परन्तु समय से पहले पहल करने से घबराते थे। यों तो वे परिवर्तनकारी राजनेताओं के सम्पर्क में थे। परन्तु उन पर भारतीय राजनयिकों का अधिक नियंत्रण था। राणाशाही की क्रूरता, दमन, और परेशानियाँ बढ़ रही थीं। राणाओं में आपसी ईर्ष्या और मतभेद की सूचना मिलती रही। ऐसी स्थिति में नेपाली कांग्रेस का एक असरदार तबका सशस्त्र क्रान्ति करने का मनसुबा बनाने लगा। तीसरे दर्जे के राणाओं ने धन और शस्त्र की व्यवस्था की। बी. पी. कोइराला ने बर्मा की तत्कालीन समाजवादी सरकार से हथियारों की सहायता मांगी; उन्हें लाने के लिए समाजवादी भोला चटर्जी और सुवर्ण शमशेर के भगीना श्री रूबम मल्ल को रंगून भेजा गया। महावीर शमशेर के हिमालय ऐवियेशन के जहाज से हथियार बिहार के बिहटा हवाई अड्डे पर लाया गया और बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री, श्रीकृष्ण सिन्हा, की मदद से पूर्वी, मध्य और पश्चिमी तराई के मोर्चों पर पहुँचाया गया। तब तक भारत सरकार की नीति स्पष्ट नहीं थी। प्रकटतः भारत सरकार नेपाल की तत्कालीन सरकार को मान्यता दे चुकी थी; परन्तु वह भी नेपाल में परिवर्तन देखना चाहती थी। जाहिर है कि नेपाल के पड़ोसी भारतीय क्षेत्र, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में नेपाल की क्रान्ति को भारतीय परिवर्तन के सन्दर्भ में देखा जा रहा था, जो कि कूटनीतिक समस्याएँ पैदा कर रहा था। नेपाल की क्रान्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र से सहयोग मिल रहा था। विशेषकर कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य भोला चटर्जी, फणीश्वरनाथ रेणु, कुलदीप, रामदहीन मिश्र, देवेन्द्र प्रसाद, बसावन सिंह युद्ध मोर्चे पर नेपाली साथियों के साथ राणाओं के विरुद्ध लड़ रहे थे। सुवर्ण शमेशर ने भूतपूर्व गोरखा सैनिकों से सम्पर्क साधा और शीघ्र ही आजाद हिन्द फौज के भूतपूर्व सैनिक यथा याकथम्बा पूरन सिंह आदि स्वयंसेवकों का प्रशिक्षित करने लग गए।

सशस्त्र क्रान्ति का श्रीगणेश विराट नगर से हुआ। वहाँ नीरिजा कोइराला, विश्वबन्धु थापा, याकथम्बा आदि ने स्थानीय गर्वनर उत्तम विक्रम को परास्त कर दुर्ग पर कब्जा कर लिया। थोड़ी कठिनाई के बाद बीरगंज में भी क्रान्तिकारियों को सफलता मिली। यहाँ मुक्तिवाहिनी के हाथ सरकारी खजाने का पचास लाख रुपया आया। साधनाभाव और नेतृत्व सम्बन्धी विरोधों के बावजूद डा. के. आई. सिंह और उनके साथियों ने पश्चिमी तराई के नेपालगंज से राणाशाही प्रशासन को खदेड़ दिए। स्मरणीय है कि पश्चिमी समाचार पत्र नेपाली कांग्रेस की सशस्त्र क्रान्ति को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अपूर्ण कार्यक्रम के अंग के रूप में प्रचारित कर रहे थे। अब तक नेपाल नरेश पिकनिक जाने के बहाने सपरिवार काठमांडू स्थित भारतीय दूतावास में नवम्बर 1, 1950 को शरण ले चुके थे और भारतीय सुरक्षा में आए दिन नई दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। ऐसी स्थिति में बी.पी. कोइराला द्वारा लूट का 50 लाख रुपया ले दिल्ली की हवाई यात्रा करना काफी नाटकीय कार्यक्रम था। भले ही राष्ट्रभक्त कोइराला लूट का माल महाराजा को भेंट करने के लिए ही ले जा रहे हों, पर क्या उनपर कोई विश्वास करता? फलस्वरूप दिल्ली हवाई अड्डे पर पहुँचते ही भारतीय सुरक्षा बलों ने इस कोष को अपनी सुरक्षा में ले लिया।

स्मरणीय है कि नेपाल नरेश खुद राणा प्रधानमन्त्री से त्राण चाहते थे। इस प्रक्रिया में असन्तुष्ट राणाओं का एक भाग महाराजा के सम्पर्क में था। अपनी इच्छा के अनुसार महाराजा की समझ थी कि उनकी राणातंत्र से मुक्ति भारतीय संघ के समर्थन से ही हो सकती है। प्रजातंत्रीय शक्तियाँ भी अपने तरीकों से असंतुष्ट महाराजा से सम्बन्धित थी। अन्त में 7 नवम्बर को 1950 को जब महाराजा ने भारतीय दूतावास में शरण ली, तो राणा प्रधानमन्त्री मोहन शमशेर ने क्रोध से पागल हो नेपाल नरेश को पदच्युत घोषित किया और भूलवश जल्दीबाजी में छूट गए महाराजा के पाँच वर्षीय पौत्र, ग्यानेन्द्र वीरविक्रम शाह की वाजाबता ताजपोशी की और अपने चाटुकार दरबारियों से उनके सिजदे कराए। यही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से बाल-नरेश को मान्यता देने की अपील की। अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों की पूर्ति के लिए ब्रिटेन बाल-नरेश को मान्यता देने को तत्पर दिखा, ताकि नेपाल से अंग्रेजी फौज में गोरखे सैनिकों की बहाली पर आँच न आए। परन्तु भारत सरकार की फटकार पर कि ब्रिटेन द्वारा वाम नरेश की सम्भावित मान्यता को भारत शत्रुता का कदम मानता है, ब्रिटिश तत्परता समाप्त हो गई। उधर दक्षिणी और पूर्वी नेपाल की तराई से नेपाली कांग्रेस की क्रान्ति की लड़ाई बढ़ती जा रही थी। निर्वासित नेपाल नरेश के पलायन के बाद से राणा सरकार की वैधता को प्रत्येक क्षेत्र में चुनौती मिलने लगी थी।

भारत सरकार भी इस संक्रमण की स्थिति को लम्बित नहीं करना चाहती थी। फलस्वरूप नेपाल नरेश, नेपाली कांग्रेस और राणाओं के बीच दिल्ली में एकपक्षीय समझौता हुआ। इसके अनुसार नेपाल नरेश सम्पूर्ण राष्ट्राध्यक्ष के रूप में काठमांडू में स्थापित हुए; एक अन्तरीम सरकार बनी जिसके प्रधानमन्त्री राणा मोहन शमशेर हुए;

राणाओं और नेपाली कांग्रेस के पाँच-पाँच मन्त्री अंतरीम सरकार में लिए गए; और शीघ्रातिशीघ्र वयस्क मताधिकार के आधार पर आम चुनाव करा जनता की सरकार बनाना तय पाया गया। यह समझौता तीनों पक्षों के बीच एक कार्यकारी हल के रूप में काफी मान-मनौवल के बाद हो पाया। सत्ता-सुख से वंचित बन्दीप्राय नेपाल नरेश एक नए आत्मविश्वास के साथ काठमांडू पहुँचे और अन्तरीम सरकार का कार्य काल आरम्भ हुआ। अनुभव और नियमों का अभाव, अविश्वास का वातावरण, समस्याओं की जटिलता, नरेश का शीघ्रातिशीघ्र सर्वशक्तिमान नेपाल नरेश बनने का प्रयास आदि के चलते अंतरीम सरकार लम्बे अरसे तक नहीं चल पाई। फिर नरेश ने बारी-बारी से कई सरकारें बनाई। परन्तु वे सभी क्षणभंगुर प्रमाणित हुईं। फलस्वरूप नेपाली जनता की परेशानियाँ बढ़ती गईं। जनता की अपेक्षाएँ आसमान छू रही थीं। दूसरी तरफ, नेपाल का प्रत्येक नेता अपने को प्रधानमंत्री के रूप में देख रहा था। नेताओं की कलह और महत्वाकांक्षाओं का लाभ उठा नेपाल नरेश राजशाही को पुनर्स्थापित करने में लग गए। राणाओं द्वारा संशय के वातावरण में पालित, विधिवत शिक्षण और सामाजिककरण से वंचित नेपाल नरेश त्रिभुवन सम्पूर्ण विश्व को शंका की दृष्टि से देखते थे। नेपाली कांग्रेस आपसी कलह के चलते घटकों में बँटने लगी। सभी स्थानीय स्तर के प्रभावी नेता अपने को राष्ट्रीय पर्याय के रूप में पेश करने में लगे रहे और सबने अपना अलग दल भी बना डाला। जनता की हताशा और निराशा बढ़ती गई। परन्तु राजशाही के वातावरण में राणाशाही अत्याचारों से मिली मुक्ति पर्याप्त समझी गई। राणा-विरोधी पलायन से मिली लोकप्रियता और रचनात्मक असहयोग के कारण 1950 के लोकप्रिय महाराजा पदों के बन्दरबँट में लगे रहे। शीघ्र ही उनका स्वास्थ्य गिरने लगा जो कि उनकी मृत्यु का कारण बना!

भूटान राज्य कांग्रेस की प्रजातान्त्रिक पहल

सिक्किम राज्य कांग्रेस के तर्ज पर भूटान राज्य कांग्रेस ने अपना तीन-सूत्री मांग पत्र भूटानी अधिकारियों को भेजा। भूटान कांग्रेस की मांगें थीं : 1. महाराजा के निरंकुश प्रशासन की भेदभाव की नीतियों से नेपालियों की मुक्ति, 2. एक लोकप्रिय सरकार की स्थापना, और 3. भारतीय संघ के साथ निकटता की नीति। ज्ञातव्य है कि सिक्किम और कुछ हद तक नेपाल के विपरीत भूटान में शिक्षा, आवागमन के साधन, जन सम्पर्क, मुद्रा आधारित अर्थ व्यवस्था, यहाँ तक कि गाँवों के स्तर तक बाजार का विकास नहीं हुआ था। वहाँ बौद्ध भिक्षुओं और सामन्तों के बीच की दूरी लगभग नहीं थी। इन दोनों ही सत्ता के स्तम्भों में आधुनिक शिक्षा का अभाव था। नेपाली मूल की भूटानी प्रजा अत्यन्त ही असहाय, अशिक्षित, बीमार और अपने गाँवों में अलग-थलग पड़ी हुई थी। ऐसी स्थिति में पर्याप्त जनबल जमा कर संगठित राजनैतिक दल और आन्दोलन चलाना काफी कठिन काम था। ऊपर से भूटान राज्य कांग्रेस ने अपनी

लाचारी को जाहिर करते हुए बौद्ध धर्मी द्रुकों को अपने दल का सदस्य नहीं बनाया। फलस्वरूप नए सक्रिय सदस्य भारत और नेपाल से ही भर्ती किए गए।

कहते हैं कि भूटानी अधिकारियों द्वारा प्रतिवेदन के अनसुने कर दिए जाने पर भूटान कांग्रेस के पदाधिकारी, यथा डी.बी. गुरुंग और जी.पी. शर्मा ने भारतीय प्रधानमंत्री से मुलाकात की। पंडित नेहरू ने उन्हें महात्मा गाँधी द्वारा बताए गए अहिंसक आन्दोलन करने की सलाह दी। परन्तु राजनैतिक संगठन के अनुभव के अभाव में भूटान कांग्रेस को नेपाली कांग्रेस की सशस्त्र क्रान्ति की राह अधिक आकर्षक लगी। छुट-पुट हिंसक घटनाएँ घटीं; परन्तु दक्षिण भूटान में तो सरकारी प्रशासन का कोई केंद्र नहीं था, जहाँ नाटकीय हमले किए जा सकें। हार कर काफी तैयारी और उत्तरी बंगाल के बाजारों में प्रचार के बाद भूटान राज्य कांग्रेस के तथा-कथित स्वयंसेवक 22 मार्च, 1954 को भूटान के सारभंग बाजार पर धरना देने के प्रयास में घुसे। प्रदर्शन का नेतृत्व नेपाली कांग्रेस का मुक्ति सेनानी, पाशंग शेरपा, कर रहा था और उसे ही महाराज को भूटान कांग्रेस का मांगपत्र पेश करना था। कहते हैं कि अधिकतर प्रदर्शनकारी भारतीय क्षेत्र में खड़े तमाशा देखते रहे। कुछ स्वयंसेवक मिलकर एक साथ सीमा पार कर आगे बढ़े। भीड़ से निबटने के मामले से अनभिज्ञ भूटान प्रशासक जे.बी. प्रधान ने गोली चलाने का आदेश दिया। फिर तो भगदड़ मच गई। कहते हैं कि 25 स्वयंसेवक मारे गए, 17 घायलों को कैद कर लिया गया। गोलीबारी के 21 दिनों बाद सड़क विहीन राज्य के विधाता, भूटान नरेश वांगचुक घटना स्थल पर पहुँचे। उपस्थित भीड़ के मुखातिब हो उन्होंने प्रश्न किया : “बताइए आप लोगों की क्या समस्या है? ये लोग बाहर से आकर हमें बताते हैं कि हमने आप पर अत्याचार किया है।” उपस्थित भीड़ की तरफ से कोई उत्तर न पा, उन्होंने भूटानी नेपालियों को आजीवन कारावास की सजा दे डाली। बाकी बाहर के स्वयंसेवकों को वापस अपने देश जाने की सलाह के साथ छोड़ दिया गया। इस प्रकार भूटान राज्य कांग्रेस का जनान्दोलन बुरी तरह टॉय-टॉय फिस हो गया।

उसके बाद भी सामची और पूर्वी द्वार क्षेत्र में सत्याग्रह करने की कोशिश की गई, परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली। उसके बाद भूटान कांग्रेस के नेतृत्व में फूट पड़ गई और दिशाहीन नेतृत्व गुटबन्दी का शिकार होकर रह गया। डी.बी. गुरुंग भूटान कांग्रेस के नाम पर ‘प्रेस रीलीज’ देते रहे और भूटान के सूरते-हाल पर समाचार पत्रों में सिलीगुड़ी से लिखते रहे। 1958 में प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू की भूटान यात्रा के उपरान्त भारत सरकार की सलाह पर भूटान ने अपनी ‘एकला चलो’ की नीति का परित्याग कर आर्थिक और सामाजिक विकास के रास्ते चलना तय किया। फलस्वरूप उसे अपने प्रवासी नेपालियों की याद आई, जो कि सस्ती और कठिन मजदूरी का सकते थे। फलस्वरूप 1958 में खेतीहर नेपालियों को नागरिकता के प्रमाणपत्र दिए गए। पंचवर्षीय योजनाओं के चलते जब विकास की गति बढ़ चली,

तो अपनी राष्ट्रीय एकीकरण की नीति के अधीन भूटान नरेश ने डी.बी. गुरुंग, डम्बरसिंह सन्तवार, डी.बी. छेत्री आदि भूटान कांग्रेस के थके-हारे नेताओं को 1969 में क्षमादान प्रदान किया। उसके बाद तो भूटान कांग्रेस एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में रह गई। आखिर ऐसा क्यों हुआ?

प्रथमतः भूटान एक निरंकुश राजतंत्र था, जहाँ व्यक्ति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, नागरिकता, नागरिक विधान, कोर्ट, आदि का अभाव था। यहाँ तक कि वहाँ न तो पुलिस थी और न जेल, न वकील मुख्तार। द्वितीय प्रभावशाली संचार तंत्र, यथा सड़कें, पहिएदार यातायात के साधन, रेडियो-स्टेशन, डाकघर, समाचार पत्र, शिक्षण संस्थाएँ बुद्धिजीवीवर्ग, विद्यार्थी, मजदूर आदि के अभाव में वहाँ राजनैतिक जागरूकता फैलाना असम्भव था। तृतीय, भूटान कांग्रेस भूटानी समाज की सर्वाधिक शक्तिशाली सामाजिक इकाई दुक्पा समाज में, प्रवेश नहीं कर पाई। इस प्रकार दुक्पा सत्ता-सामन्तों द्वारा भूटान कांग्रेस को प्रवासी नेपालियों के पार्टी बताना आसान हो गया। दुक्पा समाज की दृष्टि से भूटानी नेपाली प्रायः संदेह की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। चतुर्थ सर्वसुख बंचित प्रवासी नेपाली भूटान में हीन, भीरू, अनिश्चित, और उपेक्षित जीवन जी रहे थे। भूटान राज्य कांग्रेस के आन्दोलन ने उन्हें शक्ति देने के स्थान पर अधिक संदेहास्पद बना दिया। पाँचवाँ भूटान कांग्रेस ने अपनी मांगों को भारतीय संघ और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जोड़ कर देखने की गलती की। उस समय भूटान और भारत, दोनों ही, एक हद तक दूरी बनाए रखना चाहते थे। यही नहीं, इन्डो-भूटान संधि के अनुसार भारत भूटान के आन्तरिक समस्याओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

रजवाड़ों के आरम्भिक आन्दोलन पर दृष्टिपात

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संघ की हिमालयी नीति का खुलासा कई कारणों से नहीं हो पाया। सामुदायिक स्तर पर भारतीय जनता प्रायः नेपाली, भूटानी और सिक्किमी समुदायों को अपने से अलग नहीं देखती थी। यही कारण है कि रजवाड़ों में राजतंत्र विरोधी आन्दोलन को स्वतः समर्थन भारतीय जनता से मिला। परन्तु ऐसी तत्परता सरकार द्वारा औपचारिक स्तर पर जाहिर नहीं हो पाई। आखिर ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ हद तक गांतोक स्थित अन्तिम अंग्रेज पालिटिकल आफिसर (P.O., Gangtok) के 1946 में लिखी टिप्पणी में मिलता है। A.J. Hopkinson, P.O., Gangtok ने अंग्रेजी हुकूमत की तरफ से भारतीय संघ के लिए एक नीति-निर्धारक 'नोट' लिखा, जिसमें कहा गया कि "व्यावहारिक रूप से नेपाल, सिक्किम और भूटान, और यहाँ तक कि काश्मीर के पूर्वी विस्तार के भविष्य के प्रश्न को हल करना कठिन प्रमाणित हो सकता है। यह बहुत कुछ चीन के भविष्य और उसकी आने वाली नीति पर निर्भर करता है। भारत सरकार को पूर्वोत्तर सीमान्त की कठिनाइयों के लिए तैयार होना पड़ेगा और उसके लिए नीति निर्धारित करना

पड़ेगा। इस सन्दर्भ में सम्भव है कि इन रजवाड़ों को प्रायः स्वतंत्र परन्तु भूमि विभाजक राज्य (Buffer state) या जहाँ तक सम्भव हो, एक रैयत राज्य (Client state) के रूप में बनाए रखना होगा। इस प्रकार सिक्किम को अधिक स्वतंत्र अवसर प्रदान करना होगा; न कि भूटान और सिक्किम, दोनों राज्यों को भारतीय संघ में आत्मसात कर बौद्ध धर्मावलम्बियों के रूप में एक नए प्रकार की साम्प्रदायिकता को भारत में निमंत्रण देना। भारत सरकार को सलाह दी जाती है कि इन रजवाड़ों से सम्बन्धित स्थिति को नए सिरे से परिभाषित न करे। क्योंकि इनकी भूमिका तिब्बत और चीन, परोक्ष रूप से रूस के साथ सुरक्षा से सम्बन्धित है। सुरक्षा और राजनैतिक पहलू कूटनीतिक संधियों के रूप में हल किए जा सकते हैं, न कि राजनैतिक पहलू से, जो कि भविष्य में सुरक्षा-नीति के आड़े आ सकता है।" लगता है कि तिब्बत की बिगड़ती स्थिति और चीन में उभरते साम्यवादियों पर दृष्टिपात कर भारतीय संघ ने उपरोक्त तीनों ही रजवाड़ों से यथास्थिति (Stand still) बनाए रखने की संधि की।

हिमालयी रजवाड़ों की सामाजिक स्थिति भारत के मैदानी क्षेत्रों से भिन्न थी। सर्वप्रथम वहाँ राजशाही और सामन्तवादी का बोलवाला था। वहाँ नागरिक नहीं, प्रजा होती थी। ऐसी स्थिति में नागरिक अधिकारों की बात करना, उचित समय से पहले की बात थी। संचार और आवागमन के साधनों का अभाव था। इन राज्यों में बाहरी लोगों के प्रवेश पर पैनी नजर रखी जाती थी। उसी प्रकार उनकी अपनी प्रजा, जो राज्य से बाहर जाते थे, उनकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। राज्यों की संस्थागत सहायिका पद्धति (Institutional Support-system), यथा नियम-कानून, पुलिस, जेल, न्यायालय आदि या तो अस्तित्व में ही नहीं थे, या अपर्याप्त थे। 1940 का दशक इन रजवाड़ों के अनिश्चय और संक्रमण का समय था; क्योंकि उनकी संरक्षिका ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार, भारत छोड़ने का मन बना चुकी थी। स्पष्ट है कि रजवाड़ों का सम्पूर्ण जीवन, राजा या प्रजा, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से प्रभावित था। परन्तु रजवाड़ों के प्रशासक आसन्न आन्दोलन के प्रभाव को अपने राज्य में रोकने के लिए कटिबद्ध थे। वहीं रजवाड़ों की प्रजा, या उसका एक प्रबुद्ध वर्ग, जन स्वतंत्रता के आन्दोलन की सार्वभौमिकता को मानते हुए उसे अपनाते को आतुर था। ऐसी स्थिति में इन दो विचारधाराओं के बीच टकराव अवश्यम्भावी था।

एक बात तो स्पष्ट है कि स्वतंत्रता आन्दोलन की लहर राजकीय सीमाओं का निरादर करती है। दूसरी तरफ, उपरोक्त तीनों रजवाड़ों का प्रजातांत्रिक आन्दोलन भारतवर्ष और इन राज्यों की सामान्य प्रजा की एकता को उजागर करता है। भूख, गरीबी, बेकारी, बीमारी, अशिक्षा, आदि अभावों भाषायी, धार्मिक भौगोलिक और क्षेत्रीय सीमाओं के बावजूद, एक दूसरे को जोड़ते हैं। यही कारण है कि बी.पी. कोइराला और असंख्य अनाम नेपाली अपने भारतीय भाई-बहनों के साथ स्वतंत्रता की लड़ाई में अंग्रेजी जेलों में बन्दी रहे। यही कारण है कि भारतीय भोला चटर्जी नेपाली,

कांग्रेस के सेनानी के रूप में बर्मा से सैनिक साजोसामान का अपने ही देश में तस्करी करते हैं। समाजवादी कुलदीप झा राणाओं की गोलियों से मरने के पहले नेपाली कांग्रेस के मुक्तियोद्धाओं को आगत राणा सैनिकों की सूचना देते हैं। गेरूआ वस्त्र धारी भारतीय डाक्टर राय चौधरी गांतोक में सिक्किम राज्य कांग्रेस का पोस्टर लिखते हैं। और यही कारण है कि नेपाली पाशंग शेरपा भूटान राज्य कांग्रेस के स्वयंसेवक के रूप में नेपाली मूल के भूटानी प्रशासक, मुलेन्द्र बहादुर प्रधान के भाड़े के टुकड़ों से पीटे जाता है।

सन्दर्भ

- Aris, Michal, Bhutan: *Earty Histooy of a Himalayan Kingdom*, Viakas Publishing House, New Dellhi, 1980.
- Basnet L.B., *Sikkim : A Shot Political History*, S. Chand Co. Pvt. Lt, New Delhi, 1974.
- Chatterjee, Bhola, *Palace, People and Politics*, Ankm Publishing House, New Delhi, 1980.
- Das, B.S., *Sikkim Saga*, Vikas Publishing House, New Delhi, 1983.
- Dutt Ray, Sunanda K., *Smash and Grab: Annexation of Sikkim*, Vikas Publishing House, New Delhi; 1980.
- Koirala, B.P., *Atmabritant : Late Life Recollections*, Himlal Books, Lalitpur, Nepal; 2001.
- Renu, Phaniswar Nath. *Kranti-Gatha*, Raj Kamal Prakashan, New Delhi, 1977.
- Sinha, A.C. *Politics of Sikkim*, Thompson Press; Faridabad; 1975.
- Sinha, A.C., *Bhutan: Ethnic Identity and National Dilemma*; Reliance Publishing House, New Delhi; 1991.
- Sianha, A C, *Himalayan Kingdom Bhutan*, Indus Publishing Company, 2004.
- Sianha, A C *Sikkim-Feudal and Democratic*. Indus Publishing Company, 2008.
- Hutt, M., *Unbecoming Citizens : Culture, Nationhood and the Flight of Refugees from Bhutan*, Oxford University Press, New Delhi, 2003.

कश्मीर की त्रसदी और हिन्दी साहित्य

शत्रुघ्न प्रसाद*

भारत के स्वर्णकिरीट और स्वर्गोद्यान के संबंध में कविवर श्रीधर पाठक ने लिखा है

प्रकृति यहाँ एकांत बैठ निजरूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति ॥
विमल अंबु-सर मुकुरुन महाँ मुख बिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन वारति ॥

कहते हैं कि श्रीनगर का अर्थ लक्ष्मी का नगर नहीं, सरस्वती का नगर है। दो अर्थ हो सकते हैंसौन्दर्य की नगरी और सरस्वती (पाण्डित्य) की नगरी। काश्मीर शब्द के भी दो अर्थ बताये गये हैं। प्रथमकश्यप + मीर, यानी कश्यप ऋषि की पहाड़ी। द्वितीयकाश + मीर या कश + मीर, यानी दो पहाड़ियों के बीच की भूमि। श्री आपटे के संस्कृत शब्दकोश के अनुसारशारदामठमारभ्य कुंकुमादिनटांतक, तावत्कश्मीर देशः स्यात् पंचाशद्दोजनात्मकः।

नीलमत पुराण के अनुसार अति प्राचीनकाल में पहाड़ों के मध्य में जल ही जल था। पहाड़ों पर नागजन रहते थे। वैदिक जन इधर आये। दोनों ने मिलकर घाटी के जल के निष्कासन का प्रयत्न किया। बारामूला के पास खनियार पत्थर को हटाकर जल को निकलने दिया। भूमि निकल आयी। लोग बसने लगे। विकास आरंभ हुआ। उसी झील का अवशेष डल झील है। उस झील को 'सतीसर' कहा गया है। अस्तु, आठवीं सदी में सम्राट् ललितादित्य ने बारामूला के पास चट्टान को हटवा कर जल को और बाहर बहने दिया। नौवीं सदी में सम्राट् अवन्तिवर्मन ने अपने महान अभियंता सूया के द्वारा घाटी के जल को बाहर निकाल दिया। उसी की स्मृति में झेलम के तट पर सूयापुर बसा जो आज सोपोर कहा जाता है।

भारत ने पुराणों में आरंभ के तीन युगों के इतिहास को विशेष शैली में प्रस्तुत किया है। रामायण और महाभारत ऐतिहासिक काव्य हैं। कलियुग के प्रायः चार

* हिन्दी के जाने-माने लेखक समीक्षक। 13ए, राजेन्द्र नगर, पटना-16

हजार वर्ष बीतने पर कल्हण कवि ने कश्मीर के इतिहास को 'राजतरंगिणी' में पद्यशैली में प्रस्तुत किया है। इसमें मुख्यतः अशोक से लेकर ईसा की बारहवीं सदी का शुद्ध इतिहास वर्णित है। जोनराज ने बारहवीं से लेकर पन्द्रहवीं और श्रीवर ने पन्द्रहवीं और शुक ने सोलहवीं तक के इतिहास को 'राजतरंगिणी' नाम से ही लिखा। यह चार सौ वर्षों का प्रामाणिक इतिहास है। केवल इतिहास ही नहीं, दर्शन, काव्य और काव्यशास्त्र में कश्मीर का अवदान महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है।

डॉ. रघुनाथ सिंह ने 'राजतरंगिणी' को अनूदित किया है। चूंकि कश्मीर शाहमीर से चौदहवीं सदी में पराजित हो गया। अतः अनुवादक ने जोनराज कृत राजतरंगिणी के अनुवाद को 'कश्मीर कीर्ति शेष' कहा है। भूमिका में लिखा है जोनराज काश्मीर के 15 राजाओं और 11 सुलतानों का वर्णन करता है। उसने श्रीकण्ठचरित, किरातार्जुनीय एवं पृथ्वीराज विजय पर भाष्य लिखा है। वह व्याकरण, रस, अलंकार एवं काव्यविद् सिद्धहस्त कवि है। समय के प्रभाव के कारण कल्हण की शैली में जो उत्साह है, वह उसमें नहीं मिलता। कल्हण ने हिंदू काश्मीर तथा जोनराज ने उजड़ा काश्मीर देखा था। उसके समय समस्त काश्मीर मंदिरों, शालाओं एवं आश्रमों के ध्वंसावशेष की श्मशान भूमि थी। हिन्दू स्थापत्यों पर मस्जिदें, जियारतें तथा कब्रिस्तान बन गये थे। सिकन्दर बुतशिकन के समय केवल 11 घर हिंदू रह गये थे।

राजतरंगिणी के अनुसार परमाण्डदेव 13वीं सदी से कश्मीर दुर्बल होने लगा। घाटी में तुर्कों का प्रवेश हो चुका था। दरया नामक मुस्लिम कर्मचारी ने धात्री पुत्री पर आसक्त राजा सिंहदेव को मार दिया। वह खुद दासीकन्या को लेकर भाग गया। सहदेव गद्दी पर बैठा। इसी के समय में अफगान के स्वात नामक स्थान के शाहमीर को निवेदन करने पर बारामूला में शरण मिल गयी। उसी समय पूर्व दिशा में रिंचेन नामक भोट राजकुमार अपने क्षेत्र में उपद्रव करके सशस्त्र साथियों के साथ लारघाटी में बलात् रहने लगा। दोनों कश्मीर के कालदूत बन गये। सन् 1320 में जलकदर खॉं या दुलचा नामक तातार दस्यु साठ हजार घुड़सवारों के साथ आ धमका। राजा सहदेव पलायन कर गया। दस्यु ने लूट कर और पुरुषों को बन्दी बना लिया। वह दरें से होकर चला गया। कश्मीर सृष्टि के आरंभ काल सा लग रहा था। यह त्रासदी का प्रथम अध्याय है। बिखराव आरंभ होता है। लार घाटी के सामन्त तथा राज्य के मंत्री रामचन्द्र ने सूने राज्यासन पर कब्जा कर लिया। भोट रिंचेन ने छलबल से रामचन्द्र को मार कर राज्य पर अधिकार कर लिया। साथ ही रामचन्द्र पुत्री कोटादेवी से बलात् विवाह किया। उधर शाहमीर स्थिति से लाभ उठा रहा था। प्रजा का विश्वास पाने के लिए रिंचेन ने शैवधर्म अपनाकर के लिए निवेदन किया। आचार्य देवस्वामी ने अस्वीकार कर दिया। उसने सूफी फकीर के द्वारा इस्लाम कबूल कर लिया। सहदेव का अनुज उदयनदेव सामन्तों और सेना के बल पर रिंचेन को मार आसन पर बैठ गया। कोटादेवी ने विधिवत् विवाह कर लिया। परन्तु शाहमीर ने रिंचेन से उत्पन्न पुत्र चन्दर

को मुस्लिम मानकर हैदर के रूप में अपने पास रख लिया भविष्य की राजनीति के लिए। उदयनदेव की मृत्यु पर कोटादेवी ने बुद्धिमत्ता से शासन किया। शाहमीर कुछ सामंतों को मिलाकर अपने को प्रबल करता रहा। अकाल पीड़ित क्षेत्र में कोटादेवी के जाने पर शाहमीर ने श्रीनगर पर कब्जा कर लिया। युद्ध में कोटादेवी पराजित हो गयी। प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए उसने आत्महत्या कर ली। सन् 1339 से शाहमीर की हुकूमत शुरू हो गयी। यह त्रासदी का महाकाल रूप सिद्ध हुआ जिसका परिणाम आज का कश्मीर है।

इसी शाहमीर का प्रपौत्र सिकन्दर गद्दी पर बैठकर मंदिरों का विध्वंस धर्मान्तरित मंत्री सूहभट्ट के सहयोग से करने लगा। जोनराज के अनुसार "मार्तण्ड, विजय, ईशान, चक्रभूत, त्रिपुरेश्वर आदि को भग्न कर दिये। सुरेश्वरी, वराह आदि प्रतिमाओं को भंग करते समय भय से पृथ्वी भी कंपित हो गयी। कोई भी पुर-पत्तन, ग्राम या वन नहीं बचा, जहाँ सूह तुरष्क ने सुरागार को निःशेष न कर दिया हो।" इसी सिकन्दर बुतशिकन का पुत्र जैनुल आबदीन ने अत्याचार को बन्द करने की कोशिश की।

सन् 1586 से मुगल शासन शुरू हुआ। शाहजहाँ के सूबेदारों ने जुल्म शुरू कर दिया। औरंगजेब की हुकूमत में यह जुल्म सीमा पार करने लगा। ब्राह्मण ही इस जुल्म के शिकार हुए। पं. कृपाराम के नेतृत्व में एक दल आनन्दपुर आया। गुरु तेग बहादुर जी से रक्षा के लिए निवेदन हुआ। नवम गुरु ने कश्मीर के हिन्दुओं की पीड़ा की गहरी अनुभूति से कहा "इस समय धर्म और देश की रक्षा का एकमात्र उपाय किसी महापुरुष का बलिदान है।" पुत्र गोविन्दराय की वाणी सुन कर वे बोल उठे "धर्म की रक्षा के लिए मैं सहर्ष अपना बलिदान दूँगा।"

औरंगजेब ने गुरु तेग बहादुर और उनके तीनों शिष्यभाई मतिदास, भाई सतिदास तथा भाई दयालदास की इस्लाम नहीं कबूल करने पर बारी-बारी से निर्मम नृशंस हत्याएँ कीं। कश्मीर के लिए कोटादेवी के बाद यह दूसरी शहादत हुई। गुरु गोविन्द सिंह ने 'विचित्र नाटक' में लिखा :

धर्म हेतु साका जिन कीआ,

सीस दिया पर सिररु न दीआ।

ठोकर फोरि दिलीस सिर, प्रभुपुर किआ पयान,

तेग बहादुर सी क्रिया, करी न किनहुँ आन।

औरंगजेब के बाद अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों से पश्चिमोत्तर में अफगान राज्य कायम हो गया। 1753 ई. से कश्मीर में पुनः अफगान शासक बन गये। 1762 ई. में सूबेदार नुरुद्दीन के वक्त हिन्दू और शियाओं पर जुल्म आरंभ हो गया। अत्याचार और जजिया के दबाव में भी केवल ब्राह्मण शेष थे। सूबेदार असद खॉं ने इन्हें झेलम में डुबो कर मारना शुरू कर दिया। वह स्थान 'बट्ट मजार' कहलाता है। यह त्रासदी का नया दौर सिद्ध हुआ।

अठारहवीं सदी खत्म होते ही महाराज रणजीत सिंह ने पंजाब को छह सौ वर्षों के बाद तुर्क, मुगल और अफगान हुकूमत से मुक्त कर दिया। उनके सहयोगी जम्मू के राजा गुलाब सिंह के सहयोग से 1819 में कश्मीर भी मुक्त हो गया पाँच सौ वर्षों की पराधीनता के बाद। महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने पंजाब पर कब्जा कर लिया। परन्तु गुलाब सिंह ने समझौता करके जम्मू-कश्मीर के राज्य को संभाला। अतः 1846 से 1947 तक जम्मू और कश्मीर मुस्लिम जुल्मों से मुक्त रहा। मुस्लिम बहुल कश्मीर में शेख अब्दुल्ला ने सन् 1930 ई. से मुस्लिम कान्फ्रेंस के जरिये सियासत शुरू कर दी। उन्होंने राजा के खिलाफ आन्दोलन आरंभ कर दिया। नेहरू जी ने अपने दोस्त शेख को नेशनल कान्फ्रेंस बनाने की सलाह दी। सन् 1947 के अक्टूबर में पाकिस्तान ने आक्रमण कर दिया। राजा हरिसिंह ने जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय कर दिया। नेहरू जी ने शेख अब्दुल्ला को रिहा करा कर आक्रमण को रोका। तथापि उनके अविवेक के कारण युद्ध विराम हो गया। एक तिहाई अंश पाकिस्तान के कब्जे में रहा। नये संविधान में शेख के दबाव में कश्मीर को 370 धारा की विशेष सुविधाएं मिलीं। शेख अब्दुल्ला सर्वेसर्वा बन कर आजाद होने का सपना देखने लगा। धारा 370 की समाप्ति के लिए छः माह तक आन्दोलन चला। तब नेहरू को शेख के षड्यन्त्र का पता चला। उन्हें पद से हटाया गया।

पाकिस्तान प्रायोजित 1990 से आतंकवाद की शुरुआत के फलस्वरूप कश्मीर के हिन्दू कश्मीरी पंडित भगा दिये गये, जो पिछले उन्नीस वर्षों से शरणार्थी शिविर में पड़े हुए हैं। कश्मीर की पीड़ा पर कश्मीरी, डोगरी और हिन्दी में रचनाएँ हो रही हैं।

स्मरण रहे कि गुरु तेग बहादुर के बलिदान के मर्म पर स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने लिखा है। भाई सन्तोख सिंह ने 'गुरु प्रताप सूर्य' की ब्रजभाषा हिन्दी में रचना की है। इसमें बलिदान के गौरव के साथ श्रद्धाजलि अर्पित की है :

तेग बहादुर सतगुरु दे सत्रुनि उद्वेग
बेग धारि रुधहिं जतन गिरा दुष्ट पर तेग।
धर्मजगत रखि लीन, तृन सम अपनी दीनि सिर
सिररू न दीनि प्रवीन, तेग बहादुर धीर सुर।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'गुरुकुल' में गुरु तेग बहादुर के बलिदान का भावपूर्ण वर्णन किया है। इधर प्रसिद्ध कवि उदयभानु 'हंस' ने 'गुरु गोविन्द सिंह' नामक अपने प्रबन्ध काव्य में नवम गुरु के बलिदान का मार्मिक वर्णन किया है। साहित्य अकादमी से प्रकाशित 'समकालीन भारतीय साहित्य' का अक्टूबर-दिसम्बर, 1992 का अंक विस्थापित काश्मीरी साहित्य पर केन्द्रित है। ये कवि कश्मीरी और डोगरी में अपनी पीड़ा को व्यक्त कर रहे हैं।

कश्मीरी के साहित्यकार रतन लाल शांत ने एक लेख में बताया है कि आतंकवाद के पहले शिकार अल्पसंख्यक (हिन्दू) बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ थे

क्योंकि वे अलगाववादी आतंक से असहमत थे। असहमति का रक्त बह उठा। कवि तड़प उठे। श्री मोती लाल साकी ने 'मरसिया' में इस अथाह व्यथा को व्यक्त किया है। कवि सोमनाथ की लेखनी ने भी आह भरी है। श्री अर्जुन देव 'मजबूर' 'आग और शीतलता' में आशा करते हैं कि आग और द्वेष के वातावरण से मनुष्यता कभी सिर उठा सकेगी। जब मनुष्यता जगेगी तो

कश्मीरी मूल की सुप्रसिद्ध लेखिका चन्द्रकान्ता ने मार्च, 1993 के 'हंस' में कश्मीरी अल्पसंख्यक की पीड़ा और देश की उदासीनता पर क्षोभ प्रकट किया है।

विस्थापित प्रसिद्ध लेखिका क्षमा कौल ने अपने एक आलेख में मजहबी दहशतगर्दी के जुल्मोसितम के शिकार कश्मीरी पंडितों के पलायन, संत्रास, शरणार्थी शिविरों की यातना और शेष भारतीयों की अकल्पनीय उदासीनता पर रोष प्रकट करते हुए लिखा है कि विस्थापितों की लेखनी से अभिव्यक्त हो रहा है। इन्होंने इसमें एक प्रसंग को स्पष्ट किया है—'विस्थापन के प्रारंभिक दिनों में जब बाबा नागार्जुन दिल्ली के एक शरणार्थी शिविर में मुझसे मिलने आये तो मैंने पूछा बाबा... हम देश की सड़कों पर मर रहे हैं, वे मौन हैं, लेखकों को यह क्या हो गया है? हमें अस्पृश्य समझ रहे हैं। वे बोलेवे अन्दर से घबराए जरूर हैं पर दो चित्ते हैंसच कहूँ मैं अंदर से आर.एस.एस. का समर्थक हूँ।'

इस आलेख में एक दूसरा प्रसंग भी है। पिछले वर्ष हिन्दी के नामवर आलोचक ने जम्मू में कहा कि मैं कश्मीरी हिंदुओं के जिन्साइड को फासिज्म नहीं मानता। क्यों? क्योंकि उन्होंने तुम्हें भागने दिया। फासिज्म में भागने नहीं दिया जाता। एक-एक को कत्ल किया जाता है।

क्षमा कौल ने अपने गंभीर आलेख में रचनाओं के कुछ उदाहरणों से विस्थापितों के दर्द, चिंता, आशा, मानवता और राष्ट्रीय भावना को स्पष्ट किया है, रेखांकित किया है। उसे हम देखें।

गजब की बात है कि कश्मीर में इस सारी विभीषिका का पूर्वाभास भी पहले ही साहित्य में विद्यमान था। कवि दीनानाथ नादिम की ये पंक्तियाँ कहती हैं

होश में रहिए भाई, होश रखिए
धान के भण्डारों में पड़ोसी
भर रहे हैं हथियार
मौत के सौदागर फिर करने आयेंगे बमबार।
फिर बलिदान की बोली लगेगी
क्या बहेगी फिर से रक्त की धार

एकाकीपन और उपेक्षा ने विस्थापित लेखक को और सरफरोश होने का दम दिया। कवि संतोष की पंक्तियाँ हैं

आकाश में सूराख
कर देने वाले नारों
बदन में छेद कर देने
वाली गोलियों और गालियों के बीच
जिंदा रहा हूँ मैं, पूरी सभ्यता के साथ
यही मेरी संघर्ष गाथा है।

कवि महाराज कृष्ण भरत की कविता में दर्द और स्मृति

कंकड़ली जमीन के विस्तर पर
अपनी बाजू के तकिए
का सहारा लेती मेरी माँ
रात के सन्नाटे में / बदलती रहती है
जब करवट पर करवट
मुझे कश्मीर की याद बहुत सताती है।

कश्मीरी कवि प्रेमनाथ शाद की रचना में पलायन की मनोदशा

घर त्यागा / और भागा
अर्जित-संचित सब कुछ त्यागा / भागा
ठाकुर द्वारे पर नमन किया
शिव पर अश्रुधार बहाई / भागा
भय, आतंक, निस्सहायता / पागलपन
छाती को पाषाण बनाया / भागा

इन दिनों जम्मू में रह रहे अग्निशेखर और डोगरी के निर्मल विनोद कश्मीरी, हिन्दी तथा डोगरी में कश्मीर की त्रासदी और विस्थापितों की कथा पर मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

पटना में रचित हिन्दी की रचनाओं के कुछ अंश देखें। ये इन पंक्तियों के लेखक की रचनाएँ हैं।

केसरबाड़ी का घाव दहकता है।
सियासी बहस सुन दिशाएँ मौन हैं ॥
दहशत की आँधी, परिन्दे छिप गये।
वे उस कमरे में, बन्द हैं मौन हैं ॥
× × ×
दहशत ने उजाड़ दिया घर-संसार।
दहक रहे शोले हैं सरे बाजार ॥

उनकी सियासत रेत की आँधी हे।
चट्टान बन रोक लो, सरे बाजार ॥
× × ×
उस सरहद पर बारूद, इस शहर में विस्फोट।
सपने तो घायल हुए, भटकन हमारी है ॥
आतंक की आग में, दहक रही घाटी है।
दहशत को दफनाना, यह आदत हमारी है ॥

हिन्दी के कुछ उपन्यासकारों ने इस पीड़ा के अहसास के बाद उपन्यासों की रचना की है। जैसे तीन में दो तो कश्मीरी मूल की लेखिकाएँ हैं। चन्द्रकान्ता ने सन् 2001 में 'कथा सतीसर' की रचना की। सन् 1990 में विस्थापित होकर जम्मू में रहकर क्षमा कौल ने सन् 2004 में 'दर्दपुर' को लिखा। इन पंक्तियों के लेखक ने सन् 2002 में चौदहवीं सदी के संघर्ष एवं पराजय पर अपना उपन्यास प्रस्तुत किया। पद्मा सचदेव ने भी जम्मू की पृष्ठभूमि के उपन्यास में कश्मीर घाटी की पीड़ा को व्यक्त किया है।

चन्द्रकान्ता ने 'कथा सतीसर' में प्राचीन कश्मीर की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए सन् 1930 से लेकर सन् 1990 तक की राजनीतिक-सामाजिक जीवन की उथल-पुथल का वर्णन कर कश्मीरी पंडित समुदाय के दर्द को शब्द दे दिया है। कभी वहाँ के बहुसंख्यक मुस्लिम समुदाय और अल्पसंख्यक हिन्दू मिल कर रहते थे। पर मजहबी सियासत ने इस सम्बन्ध में फर्क डाल दिया। उपन्यास लेखिका ने स्पष्ट कर दिया है कि सभी शासकों-अंग्रेज, कश्मीरी राजा, नेता शेख अब्दुल्ला, म.अ. जिन्ना और पं. जवाहर लाल नेहरूसबने दुलमुल नीति तथा वैयक्तिक महत्वाकांक्षा के कारण कश्मीर को संकट में डाल दिया। इसी पृष्ठभूमि में उन्होंने कश्मीरी पंडित अयोध्यानाथ के परिवार की तीन पीढ़ियों के वर्णन के साथ पाकिस्तान प्रेरित आतंकवाद के बढ़ते कदम को चित्रित किया है। इस मजहबी आतंकवाद के क्रूर प्रहार से ताड़ित-त्रासित कश्मीरी पंडितों को पलायित होना पड़ा। अपने ही देश में बने शरणार्थी-विस्थापित की पीड़ा को शब्दायित करना लेखिका का प्रयोजन है। जैसे अन्त में आशा की किरण भी झलकती है।

'कथा सतीसर' बहुचर्चित, प्रतिष्ठित तथा पुरस्कृत उपन्यास सिद्ध हुआ। यह कश्मीर के जीवन के यथार्थ का मार्मिक उपन्यास है।

क्षमा कौल ने 'दर्दपुर' में सन् 1990 के लोमहर्षक यथार्थ-आतंकवाद के प्रहार से अल्पसंख्यक हिन्दूजन के पलायन को आँसुओं की स्याही से प्रस्तुत किया है। नयी शैली की कथावस्तु में क्षमा कौल ने आतंकवाद से पीड़ित नारी जीवन के अध्ययन के लिए भ्रमणशील महिला दल की सुधा के माध्यम से संपूर्ण यथार्थ और उसके दर्द को व्यक्त किया है। कश्मीर के धर्मान्तरित हिन्दुओं यानी मुसलमानों की कट्टरता की मानसिकता, हिन्दुओं की उदासीनता एवं कायरता तथा भारत सरकार की बेरुखी को

देख नायिका सुधा का क्षोभ उमड़ पड़ा है। गणपतियार में मंदिर कांटेदार तारों में बंधी है। श्रीनगर में डल झील अब कब्रगाह है। सुधा के बचपन की स्मृतियाँ जग जाती हैं। पड़ोस की मुस्लिम लड़कियाँ हिन्दू देवी को अपमानित करती रहीं हैं। अब आतंकवाद ने उनके घरों पर इशतहार चिपका दिये कि वे सब कुछ छोड़ कर भाग जायें। सन् 1947 के बाद ही हिन्दुओं की त्रासदी शुरू हो गयी थी। 'हजरत बल काण्ड' के वक्त जुलूसों में हिन्दुस्तान को गाली दी गयी। बांग्लादेश की विजय के बाद कश्मीरी मुसलमान भारत के खिलाफ खड़ा हो गया था। कहीं-कहीं पड़ोसी मुसलमान अपनापन रखते थे। पर अलगाववाद के बढ़ते पग से सभी कश्मीरी पंडितों के विरोधी हो गये। पलायन के बाद नायिका महसूस करती है 'हमें क्या पता था कि हम हिन्दुस्तानी हैं, पर हिन्दुस्तान हमें मानता हो ... ऐसा कुछ नहीं।'

क्षमा कौल ने अपनी विशिष्ट कथावस्तु, पात्रों के गठन तथा मार्मिक वर्णन शैली से कश्मीर की त्रासदी को प्रत्यक्ष कर दिया है। अतः यह उपन्यास सचमुच में दर्द की घाटी का यथार्थपूर्ण मर्मस्पर्शी आख्यान है।

'कश्मीर की बेटी' में मैंने चौदहवीं सदी के कश्मीर की त्रासदी को सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक संघर्ष के मध्य दिखाने का प्रयत्न किया है। अफगान शाहमीर सन् 1319-1320 में कश्मीर में आकर राजा सहदेव से शरण पा गया। जलकदर खॉ-तातार दस्यु के आक्रमण से कश्मीर उजड़ गया। पारस्परिक मतभेद, सामाजिक विषमता, भोट रिंचेन के उपद्रव, शाहमीर के षड्यंत्र तथा राजनीतिक उथल पुथल से कश्मीर कमजोर हो गया। कोटादेवी ने आनन्द भिक्षु भट्ट के सहयोग से सबल शासन स्थापित किया। पर शाहमीर ने छल से भट्ट को मार कर कोटादेवी को दुर्बल करने की कोशिश की। अकाल क्षेत्र में कोटादेवी के जाने पर उसने श्रीनगर पर कब्जा कर लिया। युद्ध में कोटादेवी हार गयी। बन्दिनी रानी कोटा की आत्महत्या के बाद शाहमीर 1339 ई. में कश्मीर का शासक बन गया। कश्मीर के गौरवपूर्ण इतिहास की इस त्रासदी का परिणाम ही आज का भयावह संकट है। वैसे कोटादेवी, चाँदनी और आनन्द भिक्षु भट्ट के चरित्र हमें प्रभावित करते हैं। पर अन्य राजा, सामन्त और मंत्री तो लोभी और व्यक्ति केन्द्रित हैं। शाहमीर का चरित्र अपने निरन्तर षड्यन्त्र और छल-बल से मजहबी सियासत का कूटनीतिज्ञ ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार ये तीनों उपन्यास हमारे राष्ट्रीय जीवन के मर्मन्तक यथार्थ को रखने में समर्थ हुए हैं। वामपंथी उपन्यासकार तो इस यथार्थ की उपेक्षा करते रहे हैं। पर इतिहास और वर्तमान का यथार्थ उपर्युक्त तीनों उपन्यासों में चित्रित होकर हिन्दी के उपन्यास साहित्य को समृद्ध कर रहा है। सबका ध्यान अपने स्वर्णकिरीट कश्मीर की त्रासदी की ओर जाने लगा है। कवि तथा कथाकारदोनों की दृष्टि भारत के जीवन के यथार्थ पर केन्द्रित हुई है नामवर आलोचक की पक्षपातमूलक उपेक्षा के बाद भी। अतः कथा सतीसर, कश्मीर की बेटी और दर्दपुर तीनों का महत्त्व विशिष्ट है। ये उपन्यास साहित्य की उपलब्धि हैं।

प्राचीन भारतीय विज्ञान के कुछ बिम्ब एवं विज्ञान कथा

राजीव रंजन उपाध्याय*

आज हम संचार क्रान्ति के युग में हैं। इस संचार क्रान्ति ने अखिल विश्व को संचार सूत्र में बांध कर उसे विश्व-ग्राम में परिवर्तित कर दिया है। फलस्वरूप पश्चिम की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के कपाट की अर्गला खुल गयी है। पश्चिम का सांस्कृतिक-समीर, समाचार पत्रों, संचार उपग्रहों, इन्टरनेट एवं सर्वोपरि-टेलीविजन के माध्यम से, हमारे समाज में एक अभिनव-संचार-सांस्कृतिक विदूषता को जन्म दे रहा है। यह संस्कृति भारतीय मानसिकता, उसमें निहित जीवन-दर्शन को ही नहीं वरन् परोक्ष में हमारी सनातन-शाश्वत संस्कृति को प्रदूषित कर रही है। आज मात्र ललाम वारिधारिणी भागीरथी ही प्रदूषित नहीं है, वरन् प्रदूषित हो रही है ज्ञान-सरस्वती, प्रच्छन्न रूप में।

इस नव-प्रभाव के प्राकट्य से सैकड़ों वर्षों पूर्व हमारी संस्कृति को नष्ट करने का जो सुनियोजित षड्यंत्र ईसाई-मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ किया गया था, वही कलेवर बदल प्रगतिशील विचारकों द्वारा अनेक स्वरूप में व्यक्त हो रहा है। इस प्रकार के विचारकों के अनुसार संस्कृति शब्द तो कल्चर का अनुवाद है, क्योंकि यह शब्द न तो मोनियर-विलियम के, अथवा आप्टे के संस्कृति कोषों में है। उनके अनुसार यदि उक्त शब्द कोष रचयिता किसी कारणवश इस संस्कृति शब्द की चर्चा नहीं करते हैं तो वह शब्द पश्चिमी प्राचीन भाषा लैटिन के कल्चर-कल्चुरा शब्द, जिसका अर्थ उपासना और कृषि दोनों होता है, उससे उद्भूत माना जाना चाहिए। इस प्रकार के विचारकों ने भारत की धरोहर वेदों का अनुशीलन करना कुछ विशेष कुण्ठाओं के कारण उचित नहीं समझा होगा। तथ्यतः यह शब्द यजुर्वेद के निम्न मंत्र में सार्थक स्वरूप में विद्यमान है

“सा प्रथमा संस्कृति विश्वधारा” (यजु. 7/14) “वह विश्व द्वारा वरण की गई प्रथम संस्कृति है।”

* परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.)

स्मरण रखना चाहिए कि जब 'वैदिक गणित' की चर्चा सर्वप्रथम भारत में की गई तो पश्चिमोपासक भारतीय चिंतकों-वैज्ञानिकों ने इस विधा को गम्भीरता से लेना उचित नहीं समझा था। उनके मानस में तो आर्केमेटिस, पैथागोरस, रेने-दकार्त, लेवाइजर, पास्कल-कोपर्निकस और न्यूटन आदि के नाम बसे थे। स्वाभाविक था उनका भारतीय-वैज्ञानिक विधा का विरोधविशेष कर प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक पद्धति को नगण्य करने के, उनके जन्मजात अधिकार, का प्रयोग। अधिकांश लोगों के मन में यह भ्रान्तिमय अवधारणा विद्यमान है कि विज्ञान की आधार शिला इन्हीं वैज्ञानिकों ने रखी थी। इस अवधारणा के पीछे, उसकी पृष्ठभूमि में सहस्रों वर्षों से भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान के अवमूल्यन का, नष्ट करने का सुनियोजित प्रयास है। आज आवश्यकता है कि इस भ्रान्तिजन्य कुचक्र की कुक्षि से तथ्यों के नवनीत को जन-सामान्य तक संप्रेषित करने के हेतु प्रयास का प्रारम्भ करना।

प्रसन्नता का विषय है कि भारतीयता में रुचि रखने वाले चिंतकों ने, वैज्ञानिकों ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। परिणामस्वरूप प्राचीन भारत के विज्ञान से संबद्ध अनेक तथ्य स्पष्ट होकर-प्रत्यक्ष हो रहे हैं। फलतः प्रबुद्ध जन आपिशाल, कपिल, कणाद, आपस्तम्ब, बौधायन, सुश्रुत, चरक भास्कराचार्य, आर्यभट्ट आदि भारतीय मनीषी वैज्ञानिक के नामों से परिचित हो रहे हैं। आशा है कि आने वाले समय में सत्य का सूर्य उद्भासित होकर भारत की उज्ज्वल परम्परा के प्रणेता विज्ञान-वेत्ताओं के नामों से विश्व को पुनः परिचित करा देगा। भारत की विज्ञान परम्परा को दर्शाने वाले अनेक श्लोकों की भाँति निम्न श्लोक अब सहज सर्वत्र स्थापित हो चुका है

“वैज्ञानिकाश्च कपिलः कणादः सुश्रुस्तथा ।
चरको भास्कराचार्यो वाराहमिहिरः सुधी ॥
“नागार्जुनो भरद्वाजः आर्यभट्टो बसुर्वुधः ।
ध्येयो व्यंकरटाराश्च विज्ञा रामानुजादयः ॥”

वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न भारतीय परम्परा में शोध के परिणाम विभिन्न संस्कृत ग्रंथों में, अपने कुछ परिवर्तित स्वरूप में विद्यमान हैं। विभिन्न वैज्ञानिक-विषयों के प्रणेताओं में महर्षि भृगु, कवि उशना (शुक्राचार्य) भारद्वाज, इन्द्र, वशिष्ठ, अत्रि, गर्ग, शौनक, नारद, द्रोण, चाक्रायण, धुण्डीनाथ, नंदीश, कश्यप, अगस्त, दीर्घातमस आदि का नाम अग्रगण्य है। इन ऋषियों ने विमान विद्या, नक्षत्र विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, धातुकर्म, आदि अनेक क्षेत्रों में शोध किया। इन विविध विधाओं का उल्लेख भृगु-संहिता के प्रारम्भ में वर्णित है

नानाविधानां, वस्तूनां यंत्राणां, कल्पसंपदा,
धातूनां साधनानां च वस्तूनां शिल्प संज्ञितम् ।

कृषिर्जलं खेनिश्चेति धातुखण्डम् त्रिधाभिधम्॥
नौका-रथाग्नियानानाम्, कृति साधन मुच्यते ।
वेश्म प्राकार नगररचना वास्तु संज्ञितम्॥

इन शास्त्रों में कृषि, जन खननशास्त्र, नौकाशास्त्र, रथशास्त्र, अग्नियान शास्त्र, वेश्मशास्त्र, प्राकारशास्त्र, नगर तथा वास्तुशास्त्र प्रमुख हैं।

भारतीय विज्ञान विकास गाथा का कटु पक्ष है प्राचीन संस्कृति की पुस्तकों का धर्मान्ध आक्रांताओं द्वारा, मध्य युग में नष्ट कर दिया जाना। ग्रन्थागारोंयथा नालंदा, विक्रमशिला के ग्रन्थागारोंको अग्नि लगा देना और उसका कई दिनों तक जलते रहना एक सर्वविदित तथ्य है।

दूसरा दुखद पक्ष है इन प्राचीन पाण्डुलिपियों, ग्रन्थों की स्मगलिंग। एक अनुमान के अनुसार पांच लाख संस्कृत पाण्डुलिपियां पश्चिमी देशों के ग्रन्थागारों और व्यक्तिगत पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इसी कारण सामान्य भारतीय विज्ञान अध्येताइन ग्रन्थों के अस्तित्व से अनभिज्ञ हैं।

इन तथ्यों की भाँति महत्त्वपूर्ण है स्वतंत्रता के उपरान्त भारत सरकार द्वारा संस्कृत के पठन-पाठन को महत्त्व न देना जो हमारी प्राचीन गौरव गाथा के क्षरण का एक प्रमुख कारण है।

शून्य के महत्त्व की चर्चा करते हुए प्रो. जे.बी. हैल्सहेड ने लिखा है, “शून्य का भारतीयों द्वारा आविष्कार इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय वह कम है।”

शून्य के उपयोग की चर्चा यद्यपि आचार्य पिंगल कृत छंद सूत्र, जो 200 ई. पूर्व की रचना है, में प्राप्त होता है परन्तु इसके आविष्कारक, ऋग्वैदिक ऋषि गृत्समद हैं। दशमलव पद्धति एवं 10¹² परार्ध तक की संख्याओं की चर्चा महर्षि मेघातिथि करते हैं तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के एक मंत्र में यह संख्या 10¹⁹ तक जा पहुँची है, इसे लोक के नाम से प्रकट किया गया है। महर्षि आपिशाल, जो ध्वनि शास्त्र के वैदिक प्रणेता ऋषि थे, की भाँति ही महर्षि मेघातिथि के गणित संबंधी अनेक मंत्र ऋग्वेद आदि में विद्यमान हैं।

वैदिक गणित में शून्य सूत्रों का प्रमुख स्थान है। गणित इतिहासविद् डॉ. ए.के. बाग के अनुसार, सूत्र कालीन इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सूत्रों की रचना के पूर्व भी गणित के अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी परन्तु वे सब अब कालकवलित होकर नष्ट हो चुके हैं। इन सूत्रों में विविध वैदिक यज्ञों में बनायी जाने वाली यज्ञ वेदिकाओं की विधिवत रचना समीक्षा की गई है। शून्य सूत्रों की रचना के लिए सात सूत्रकारों के नाम प्रमुख हैं-बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन, मानव मैत्रायण, वाराह एवं हिरण्यकेशी। इन्हीं ऋषियों की वैदिक-कालीन रेखा गणित का प्रवर्तक एवं आचार्य कहा जा सकता है। ज्यामिति में जिस प्रमेय को पाइथागोरस प्रमेय कहकर हमें

पढ़ाया गया है, उसे पाइथागोरस से एक हजार वर्ष पूर्व महर्षि-बोधायन ने शुल्ब सूत्र में निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है

“दीर्घ चतुरस्रस्याक्षया रज्जुः पार्श्वमानी तियक्मानी च तत्पृथग्भूते कुरुतस्य दुभयं करोति।”

“अर्थात् किसी आयत की भुजाओं के वर्गों का योग उसके कर्ण के योग के बराबर होता है।”

निश्चय ही यह प्रमेय अन्य भारतीय ज्ञान के साथ सिकन्दर के आने के उपरान्त, यूनान और भारतीयों में संपर्क के बाद, यूनान पहुँचा और कालान्तर में पाइथागोरस प्रमेय के नाम से प्रचारित की गया। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक ऋषियों को नक्षत्रों का दीर्घ-वृत्तीय पथ भी ज्ञात था, जो ऋग्वेद संहिता (6000 ई. पू.) में निम्नवत् वर्णित है

“त्रिनाभिक्रमऽजरमनर्व यत्रोमा विश्वास भुवनानि तस्युः।”

अर्थात् “जिस दीर्घ वृत्तीय पथ पर समस्त खगोलीय पिण्ड गति करते हैं वही अजर और अनर्व है।”

इसी तथ्य की चर्चा जर्मन वैज्ञानिक जोहासन केपलर ने, योरम में 1600 ई. में करके ख्याति प्राप्त की थी, जो भारतीयों को सात हजार वर्ष पूर्व से ही ज्ञात थी।

जैन गणित के आचार्यों को लघुगणक प्रणाली, लागरिथमस, आधुनिक युग में उसके प्रवर्तक नैपियर (550-617ई.) से चार सौ वर्ष पूर्व ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में ज्ञात थी।

गणित के प्राचीन आचार्यों में आर्यभट्ट (प्रथम), ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य, श्रीधराचार्य, आर्यभट्ट (द्वितीय) और भास्कराचार्य (द्वितीय) का नाम अग्रगण्य है। 17वीं शताब्दी के आइजक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत से पाँच सौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य (द्वितीय) ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की खोज की थी। यह अतीव कष्ट एवं दुख का विषय है कि छात्रों को उनके द्वारा प्रतिपादित “आकृष्टि शक्तिश्च महतिपायात् स्वस्थं गुरु स्वमुखं स्वषक्तया (पृथ्वी में आकर्षण की शक्ति है, इस कारण आकाश स्थित भारी वस्तुओं को वह अपनी शक्ति से आकृष्ट करती है-खींच लेती है) - सिद्धांत पढ़ाया नहीं जाता है।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों का गणित के प्रति अगाध प्रेम वेदांग ज्योतिष के इस श्लोक में प्रतिध्वनित होता है

“यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।

तद्वेदाङ्ग शास्त्राणां गणित मूर्द्धानि स्थितम्॥”

धातुकर्म और रसायन विज्ञान में प्राचीन भारतीयों की निपुणता का परिचायक दिल्ली में स्थित मेहरौली का लौह स्तम्भ है तथा मध्ययुग में समस्त एशिया में चर्चित

थी भारतीय तलवार शमशीर-हिन्द । इतना ही नहीं, वरन् रासायनिक अभिक्रिया द्वारा विद्युत उत्पादन हेतु विद्युत सेल तथा बैटरी के निर्माण का श्रेय इटली के दो वैज्ञानिकों लुइगी गैलवानी एवं आलेसान्द्रों वोल्टा को दिया जाता है। इनका कार्य काल 18वीं शती का उत्तरार्ध है। परन्तु इनके काफी समय पूर्व ऋषि अगस्त की संहिता में, रासायनिक अभिक्रिया से विद्युत उत्पादन के हेतु निम्नवत् विद्युत सेल का वर्णन है

“संस्थाप्य मृण्मये पात्रे ताम्रपत्रं सुसंस्कृतम्।

छादयेच्छिखीग्रीवेन चार्द्रभिः काष्ठपंसुभिः ॥

दस्तालोस्टो निधातव्यः परदाच्छदिदस्ततः।

संयोगज्जायते तेजो मित्रवरुण संज्ञितम् ॥”

अर्थात् मिट्टी के पात्र में अच्छी तरह से स्वच्छ की हुई ताम्र पट्टिका रखकर उसके ऊपर कापर सलफेट डालो। उसके ऊपर कष्ट का गीला बुरादा रखकर ऊपर से जिंक पारद (पारा) का मिश्रण रखो। ताम्र एवं जिंक (जस्ता) के तारों को जोड़ने से विद्युत उत्पन्न होगी।

अगस्त संहिता में इस विद्युत से जल के अपघटन तथा ताम्र पर रजत (चांदी) और स्वर्ण के विद्युत लेपन की विधि का भी उल्लेख है। इतावली वैज्ञानिकों के विद्युत सेल एवं ऋषि अगस्त की संहिता में वर्णित सेल में शतप्रतिशत साम्यता, यह संकेत करती है, कि यह भारतीय पाण्डुलिपि के इटली में, संभवतः मंगोलो के माध्यम से पहुँचने के परिणाम का फल है। प्रो. रघुवीर के अनुसार (चिन्तन-सृजन, जुलाई-सितंबर, 2008, पृ. 15) “पंद्रहवीं शती में मध्य में हजारों मंगोल इटली में कार्यरत थे। ये लोग अपना प्रार्थना चक्र घुमाने के लिए गरम भाप की धौंकनियों का प्रयोग करते थे। इन्हीं धौंकनियों ने विकसित होकर जहाजों के भाप से चलने वाले पेंचदार प्रणोदकों को प्रशस्त किया।”

अब आप महाभारत में वर्णित यंत्र-चालित नौकाओं की सत्यता पर क्या विश्वास नहीं करेंगे?

भारतीय वांग्मय विमानों की चर्चा से भरा हुआ है। पश्चिमोपासक गण इसे मात्र कल्पना मानते थे। परन्तु राइट बंधुओं के विमान (आधुनिक) के आविष्कार के लगभग दस वर्ष पूर्व सन् 1865 ई में श्री शिवकर बापूजी तलपदे ने ऋग्वेद वर्णित मरुत सखा तथा बाल्मीकि रामायण में वर्णित ‘पुष्पक-विमान’ के विवरणों के आधार पर भारतीयों विमान निर्माण के प्राचीन शास्त्रों के विवेचन के आधार पर वायुयान का एक माडल तैयार किया था। इस आधुनिक मरुत सखा का प्रदर्शन उन्होंने 1865 ई. में मुम्बई (बम्बई) के चौपाटी के मैदान में तत्कालीन बड़ौदा नरेश महाराजा सर सयाजी राव गायकवाड़, श्री लाल जी नारायण और बम्बई के अन्य गणमान्य नागरिकों के सम्मुख किया था। यह विमान बिना किसी चालक के 15 फिट की ऊँचाई तक उड़ा

था और पुनः धरती पर वापस आ गया था। इस विमान में कोई चालक नहीं था तथा इसमें नीचे उतरने का यंत्र लगाया गया था।

यह तथ्य स्पष्ट रूप से इंगित करता है, कि विमान-विद्या से संबद्ध आज अनेक पाण्डुलिपियों के विविध कारणों से, अनुपलब्ध होते हुए भी विमान-निर्माण में निपुण प्राचीन भारतीय शिल्पियों, विमान विद्या विशारदों का निर्माण कौशल असंदिग्ध है।

इन्हीं विमानों से संबद्ध अनेक प्रच्छल विज्ञान कथाएँ, वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में बिखरी पड़ी हैं। हम सभी अंतरिक्ष में गतिमान त्रिपुर-नगर का, मनशक्ति चालित विमान-सौभ की, पुष्पक आदि विमान कथाओं से भली भाँति परिचित हैं।

भारत का आयुर्विज्ञान कितना विकसित था, शल्य शाल्यक-सर्जरी कितनी विकसित थी, इस तथ्य के प्रत्यक्ष साक्षी महर्षि चरक प्रणीत 'चरक-संहिता' एवं महर्षि सुश्रुत रचित 'सुश्रुत संहिता' नामक ग्रन्थ हैं। इसी आयुर्वेद के प्रभावों के विवरण हमें अश्विद्वय, राजा ययाति एवं महर्षि च्यवन की कथाओं में प्राप्त होते हैं, तथा विविध प्रकार की सर्जरी के साथ महर्षि सुश्रुत वर्णित 'क्षार-सूत्र' पद्धति अर्श (बवासीर) के निदान में आज भी व्यवहृत हो रही है। इसी शल्य-शल्यक विद्या से संबंधित है गणेश एवं ऋषि दध्यङ्ग की कथाएँ, जिनसे हम भली-भाँति परिचित हैं।

शरीर में रक्त संचार का श्रेय अंग्रेज वैज्ञानिक विलियम हार्वे को दिया जाता है, जिन्होंने 1628 ई. में हृदयगति एवं रक्त संचार संबंधी अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी। जब कि उनसे दो हजार वर्ष से भी पहले सुश्रुत रचित सुश्रुत संहिता (600 ई. पू.) के अध्याय 14वें में इस वैज्ञानिक तथ्य का स्पष्ट वर्णन है

“आहारस्य सम्यक परितस्य यस्तेजो भूतसारा परमसूक्ष्म स रसः इत्युच्यते। तस्य हृदय स्थानं स हृदयात् चतुर्विंशतिमधर्मनरिनु प्रवीणश्च...कृत्सनं शरीरमहरहः तर्पयति वर्धयति धारयति यपायति च अद्रष्टहेतुकेन कर्मणा ॥”

अर्थात् “सुपचित आहार से जो ऊर्जा शरीर को प्राप्त होती है उसे रस कहते हैं। उसका स्थान हृदय है, जहाँ से चौबीस धमनियों (दस ऊर्ध्वगामी, दस अधोगामी और चार क्षैतिज) में प्रवेश करते हुए यह संपूर्ण शरीर का दिनानुदिन तपण, वर्धन, धारण तथा यापन करता है।”

चरक और सुश्रुत ने मात्र रक्त संचार का वर्णन ही नहीं किया है वरन रक्त के माध्यम से शरीर के विभिन्न अंगों को पोषण होने की भी चर्चा की गई है।

भारतीय वैद्यों की निपुणता, रोग-निदान में विख्यात थी। इसका प्रमाण 18वीं शताब्दी में कलकत्ता में फैली चेचक-महामारी के निदान हेतु वैद्यों द्वारा चेचक के दानों के पानी को प्रभावित रोगी के अंग में चीरा लगाकर प्रविष्ट करने की पद्धति की चर्चा अंग्रेजों द्वारा इंग्लैंड पहुँची थी। इसी तथ्य का कालान्तर, में अंग्रेज चिकित्सक जेनर ने, उपयोग कर वैक्सीनेशन पद्धति को प्रचलित किया।

वैज्ञानिक उपलब्धियों की भाँति ही प्राचीन भारतीय मनीषियों की कथोपकथन की निपुणता का परिणाम है कि विज्ञान-ज्ञान युक्त विविध रंगों में रंगी अनेक कथाएँ, भारतीय वाग्मय में यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

हम आप सभी भागवत पुराण में वर्णित राजा उत्तानपाद एवं ध्रुव की कथा से परिचित हैं। भारतीय ज्योतिष के चरमोत्कर्ष के समय में नक्षत्रों के मानवीयकरण के प्रयास द्वारा ज्योतिष के ज्ञान को, जन-सामान्य तक, संप्रेषित करने हेतु इन कथाओं की रचना की गई थी।

भागवत-पुराण में वर्णित है कि राजा ध्रुव ने छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था। ज्योतिष का प्रत्येक छात्र यह जानता है कि ध्रुव नक्षत्र एक राशि पर तीन हजार वर्ष तक रहता है। इस प्रकार बारह राशियों पर वह छत्तीस हजार वर्षों तक रहता है, यही इस ध्रुव नक्षत्र का राज्य काल होता है। ध्रुव की भूमि नाम्नी पत्नी से दो पुत्र 'वत्सर' एवं 'कल्प' हुए थे। हम इस तथ्य से परिचित हैं कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा एक वर्ष में पूरा करती है यह अवधि वत्सर कहलाती है। इसी शब्द में संवत शब्द संलिप्त होकर संवत्सर बन गया। सूर्य ब्रह्माण्ड के केन्द्र की परिक्रमा एक कल्प में करता हैयही 'कल्प' भूमि का दूसरा पुत्र है।

इसी प्रकार की कथा राजा त्रिशंकु की है, जो निश्चित रूप से भास्कराचार्य (द्वितीय) के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के संज्ञान के उपरान्त रची गयी होगी।

आज के अनुमानतः दस हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी लघु हिमयुग का दंश झेल रही थी। समय के साथ वातावरण में परिवर्तन हुआ, धरा का तापक्रम बढ़ा, परन्तु सरिताएँ हिमाच्छादित रहीं। इसी को, इसी जल को हिम से मुक्त कराने के कथा हैइन्द्र द्वारा वृत्र का वध। यह अलंकारित कथा महाभारत के समय तक कथोपकथन के प्रवाह में, ढलकर, परिवर्तित कलेवर धारण कर लोकरंजन कर रही है। उपर्युक्त सभी कथाएँ, जो प्राचीन काल में वैज्ञानिक तथ्यों को अपने आंचल में छिपाये, लोकरंजन का माध्यम थीं तथ्यतः प्रच्छन्न विज्ञान कथाएँ हैं। इनमें विगत के घटना क्रमों की चर्चा तो है, परन्तु आगत के घटनाक्रम पर, उससे जुड़े विविध संदर्भों पर चर्चा नहीं है। मानवीय संवेदनाओं, अभिव्यक्तियों, मानवीय संवेगों, संकल्पों को, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से सम्मिलित करती, कल्पना, रोमांच एवं रहस्य के आवरण से अपनी शब्द काया को अवगुण्ठित किये, भविष्यमुखी कथा-विज्ञान कथा है।

वास्तव में विज्ञान कथा आने वाले कल को उद्भाषित करती कथा हैमानव के प्रौद्योगिकी, तकनीकों, के द्वारा प्रेरित होने प्रभावित होने की कथा है।

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ है। यह विश्व की धरोहर है। इसके अनेक मंडलों में प्रथम-मंडल सबसे अधिक प्राचीन है। इस मंडल में मानवीय कल्पना के आयामों का दर्शन होता है तथा वहीं पर इस मंडल के अलंकारित मंत्रों में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास की झलक भी विद्यमान है।

प्रारम्भ में मानव सरिताओं के जल पर आश्रित था। कालान्तर में मानवीय विस्तार के परिणामस्वरूप वह सरिताओं से दूर कृषि आदि कार्यों के संपादन हेतु बसने लगा। सरिताओं से जल लाना कठिन था, इस कारण उसने धरती का खनन कर, उपलब्ध जल से अपना कार्य चलाना प्रारम्भ किया होगा। इस प्रकार के खनित कूप वर्षा के आने पर किनारे पर एकत्र खुदी हुई मिट्टी से भर जाते रहे होंगे। इस कारण सुदृढ़ कूप के निर्माण की आवश्यकताओं ने यज्ञ-वेदिका निर्माण की आवश्यकता ने, उसे मिट्टी की पकी हुई ईंटों को बनाने के लिए प्रेरित किया होगा।

ईंटों को पकाने की तकनीक मानव द्वारा पहिया अथवा चक्र बनाने की तकनीक से कम महत्वपूर्ण नहीं थी। पकी हुई ईंटों के प्रयोग ने यज्ञ हेतु निर्माण की जाने वाली वेदिकाओं को स्थायित्व ही नहीं प्रदान किया वरना कूपों को सुदृढ़ता प्रदान करने का प्रारम्भ किया। स्वाभाविक है कि गहरे और सुदृढ़ कूप के निर्माण कार्य में तकनीक समस्या शिल्पियों के सम्मुख आई होगी। इसकी झंकार निम्न अलंकारिक मंत्र में स्पष्ट सुनायी देती है

त्रितः कूपे वहितो देवान्हवात ऊतये।

तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन् हूरणादुरु वित्तमं अस्य रोदसी ॥

ऋग्वेदः मं. 1 सू.105 मंत्र. 11

त्रित नामक कूप निर्माता शिल्पी निर्माण काल में गोल दिख रहे कूप में, कुएँ में फँस गया। उसने अपने उद्धार के लिए देवगुरु बृहस्पति का आह्वान किया, पुकारा।

गणितज्ञ देवगुरु बृहस्पति ने कूप का पूर्णरूपेण गोल न होना जानकर, उसकी दीवारों को पूर्णरूपेण लम्बवत करने, कूप को गोल करने का संकेत देकर, शिल्पी त्रित का उद्धार किया। तथ्यतः यदि कूप की परिधि एवं व्यास का अनुपात 22/7 से न्यूनाधिक होगा, तो वृत्त अशुद्ध होगा तथा निर्माण पूर्ण रूपेण स्थिर नहीं रह सकेगा, गिर जायेगा, यह सर्वविदित गणितीय तथ्य है।

यह छोटी सी, महत्वपूर्ण कथा, भविष्य में कूप निर्माण की तकनीक को ही नहीं बताती, वरन इस कथा से स्पष्ट होता है कि भविष्य में कूपों के निर्माण में इस प्रकार की त्रुटि संशोधन कर, शिल्पियों ने पुराकार में सुदृढ़ कूपों के निर्माण का शंखनाद किया होगा।

इतना ही नहीं यह भविष्यमुखी-भारत की प्रथम विज्ञान कथा, पाई के मान को वैदिक कालीन गणितज्ञों को ज्ञात होने का भी संकेत देती है।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सिनेमा की भूमिका

तुकाराम दौड*

भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भ में सिनेमा शायद सबसे ज्यादा लोकप्रिय और सबसे अधिक शक्तिशाली संचार माध्यम है और हिन्दी फिल्मों सुनिश्चित रूप से दूसरी भाषाओं की फिल्मों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं। राष्ट्र भाषा के प्रचार-प्रसार में हिन्दी सिनेमा की भूमिका हमेशा प्रमुख रही है। ऐरिक जानस्टन के अनुसार "सिनेमा वर्तमान के समाज में संवहन का सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। जैसा कि यह शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं के बढ़ोत्तरी का एक सबलतम साधन है। यदि यह कहा जाता है कि एक चित्र एक सहस्र चित्रों से ज्यादा गुणवान है।"¹ जनसंचार के प्रमुख माध्यम सिनेमा ने बोलचाल की हिन्दी में अपना अमूल्य योगदान दिया है। हिन्दी भाषा द्वारा राष्ट्रभक्ति की मानवीय चेतना फिल्मों में दिखाई गई। लता मंगेशकर द्वारा गाये गए। "ऐ मेरे वतन के लोगों" गीत ने सैनिकों की वेदना की अनूभूति का परिचय सम्पूर्ण देश को करवाया। हिन्दी सिनेमा के गीतों ने हिन्दी सिखाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हिन्दी फिल्मों भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में दिखायी जाती हैं। भारत के सभी घरों में हिन्दी सिनेमा लोकरंजन एवं लोकशिक्षा का प्रभावी साधन बना है। "दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में सिनेमा की प्रभावी भूमिका को देखते हुए यह स्वाभाविक था कि भारतीय सामाजिक परिवर्तन की वाहक शक्तियों ने सिनेमा को भी प्रचार के एक अहम साधन के रूप में अपनाया।"² हिन्दी सिनेमा के क्षेत्र में नए सामाजिक मूल्योंमान्यताओं के प्रखर प्रवक्ता के रूप में व्ही. शांताराम, देवकी बोस, विमल राय, मास्टर विनायक, महबूब, ख्वाजा अहम्मद अब्बास, आदि निदेशक सामने आए। फिल्मों गीतों द्वारा नई पीढ़ी में मानवीय चेतना और आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ।

* एमआयटी जनसंचार एवं पत्रकारिता महाविद्यालय, लातूर (महाराष्ट्र)

सिनेमा का आविष्कार फिल्म मिडिया का एक सशक्त माध्यम है। आज केबल के द्वारा टीवी घर-घर में पहुँच गया है। समाज पर फिल्मी संस्कृति का प्रभाव पुराने जमाने से दिखाई देता है। सिनेमा तकनीक का श्रेय थॉमस अल्वा एडिसन को जाता है। “3 अक्टूबर, 1889 को उन्होंने इस तकनीक का सफल प्रदर्शन किया। एडिसन के तकनीकी यन्त्रों में चित्र अलग-अलग प्लेटों पर लिए जाते थे।”³ जॉर्ज इस्टमैन ने सेल्यूलॉइड फिल्म का आविष्कार किया। उन्होंने इस प्रकार सिनेमा तकनीकी को समृद्धि दी। “सिनेमा का आविष्कार 28 दिसम्बर, 1895 को ल्यूमिएर बन्धुओं द्वारा किया गया।”⁴ फ्रान्स के लुमिएर ब्रदर्स (अर्नेस्ट तथा लुई जूनियर) ने सिनेमाटोग्राफ नाम वाला यंत्र बनाया जिसे आधुनिक फिल्म जगत का पितामह कहा जा सकता है। “भारत में वर्ष 1896 में मुम्बई के वाटसन होटल में पहले चित्र का प्रदर्शन हुआ।”⁵ इसके पश्चात 1912 में ‘पुण्डलीक’ पहली फीचर फिल्म बनी और प्रदर्शित हुई और *टाइम्स ऑफ इंडिया* प्रतिदिन इन फिल्मों के बारे में समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रदर्शित करता था। इस तरह *टाइम्स ऑफ इंडिया* को फिल्म समीक्षा छापने वाला प्रथम समाचार पत्र माना जाता है। “1953 में ‘स्टीरियोस्कोप’ के आविष्कार ने सिनेमा जगत में हलचल मचा दी।”⁶ हॉलीवुड की प्रगति का इतिहास है। पाश्चात्य संसार में मनोरंजन तथा सूचना के साधन सिनेमा पर हॉलीवुड का एकाधिकार था। अमेरिका, यूरोप, जापान और भारत में औद्योगिकीकरण के साथ ही सिनेमा का विकास हुआ।

भारत में फिल्मों का आगमन 7 जुलाई, 1896 को ल्यूमियर ब्रदर्स ने मुम्बई में 6 लघुफिल्मों का प्रदर्शन किया। प्रथम भारतीय फिल्म निर्माता हरिश्चंद्र सखाराम भाटवडेकर थे जिन्होंने 1899 में “*दि रेस्टर्स मैन एण्ड मंकी*” फिल्म बनाई⁷। भारत में फीचर फिल्मों का निर्माण सन् 1912-13 में शुरू हुआ। “राजा हरिश्चन्द्र पूर्णतः भारतीय फीचर फिल्म थी। “भारत की पहली फिल्म (1913) राजा हरिश्चन्द्र थी, जिसके निर्माता धुंडीराज गोविन्द फालके (दादासाहेब फालके) थे।”⁸ हिन्दी एवं अंग्रेजी में फिल्म बनाई गई। हरिश्चन्द्र के पहले *पुंडलीक* फिल्म बन चुकी थी, जो सृजन की नजर से आधी ब्रिटिश थी। यही वजह है कि दादासाहेब फालके को ही भारतीय सिनेमा का जनक माना जाता है। “आर्देशीर इराणी ने जब *आलमआरा* बनाई तो मूकफिल्मों के स्थान सवाक फिल्मों ने लिया”⁹ 14 मार्च सन् 1931 को ध्वनि फिल्म आलमआरा का प्रदर्शन बम्बई के मेजेस्टिक सिनेमा में हुआ। इस सवाक फिल्म के चलते मूक फिल्में बन्द हो गईं और दक्षिण भारत में *भक्त प्रह्लाद* (तेलुगू) और *कालिदास* (तमिल) सवाक फिल्में बनीं। भारतीय सिनेमा का इतिहास *राजा हरिश्चन्द्र* और *आलमआरा* से शुरू हुआ है। “1904 में मानेट टी सेठना ने बम्बई में *लाईफ ऑफ क्राइस्ट* से पहला सिनेमा अपने प्रोजेक्टर से दिखाया और 1907 में कलकत्ता में जे एफ

मदान ने पहला छविगृह एलफिस्टन पिक्चर्स पैलेस पक्का सिनेमा बनाया।”¹⁰ दादासाहेब फालके फिल्म संसार के पहले व्यक्ति थे, जो विश्व के अन्य देशों में फिल्मों के लिए घूमे और भारत में फिल्मों का इतिहास बनाया। आलमआरा प्रथम बोलती फिल्म थी। वही शांताराम ने *स्वराज्य तोरण* फिल्म बनाई। यह सिलसिला 1950 तक जारी रहा। जनसंचार के सबल माध्यम के रूप में फिल्मों का निर्माण बीसवीं शदी के चौथे दशक में हुआ।

सिनेमा का प्रथम चरण इसमें आलमआरा प्रथम बोलती फिल्म से लेकर 1970 तक की हिन्दी सिनेमा को रखा गया है। यह दौर हिन्दी समाज और राष्ट्र का ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहास का सबसे अधिक उथलपुथल का दौर है। सिनेमा को आवाज मिलने के बाद फिल्मों में युगांतकारी परिवर्तन आए। फिल्म निर्माण का समूचा परिदृश्य ही बदल गया।”¹¹ हिन्दी सिनेमा ने अपने कथ्य के जरिए विभिन्न मुद्दों को उठाया है। “हिन्दी सिनेमा ने हिन्दी भाषी क्षेत्र की तमाम बोलियों और पड़ोसी भाषाओं से सम्बन्ध बनाने में अग्रणी भूमिका निभाई है।”¹² इस दौर हिन्दी फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। हिन्दी पंजाबी, उर्दू, हरियाणवी तथा अपनी बोलियों मैथिली, भोजपुरी, बुंदेलखंडी, अवधी, ब्रज आदि के माध्यम से लगातार विकसित हो रही थी। इस दौर की फिल्में जैसे *मुगलेआजम*, *नया दौर*, *तीसरी कसम*, *आवारा*, *मदर इंडिया*, *मधुमती* आदि में हिन्दी का रूप दिखाई पड़ता है। भाषाई संतुलन की दिशा में अहिन्दी भाषी लोगों ने योगदान दिया है।

सिनेमा का द्वितीय चरण इसमें 1970 से 1990 तक के हिन्दी सिनेमा को रखा गया है। हिन्दी भाषा राष्ट्र की वाहिनी है। इसीलिए हिन्दी को राष्ट्र भाषा का दर्जा दिया गया है। हिन्दी भाषा के विकास में सिनेमा का योगदान महत्वपूर्ण है। “राष्ट्र निर्माण के नेहरूवादी मॉडल की भूमिका समाप्त होने और राष्ट्रीय राजनीति के नायक विहीन होने के पश्चात जनता में जो टूटन और हताशा थी।”¹³ उसने सिनेमा में एक अद्भुत पूर्व नायक को जन्म दिया। साठ के दशक के आखिर विचारवान सिनेमा की जो लहर चली वह सत्तर दशक तक चली और सत्तर का दशक हिंसा प्रधान सिनेमा का गवाह भी बना। “इसी दौर में *शोले* और *जंजीर* जैसी फिल्में आईं।”¹⁴ जो अतिरेकपूर्ण हिंसा के बावजूद दर्शकों की पसन्द की कसौटी पर खरी उतरतीं। निर्माता जीपी सिप्पी और निर्देशक रमेश सिप्पी की शोले ने बॉक्स ऑफिस पर कामयाबी का एक नया इतिहास रच डाला और मर्यादा तथा जनता की तकलीफ को भी हिन्दी भाषाई सिनेमा द्वारा प्रस्तुत किया गया।

सिनेमा का तृतीय चरण हिन्दी सिनेमा के तृतीय चरण से अभिप्राय 1990 अर्थात् आर्थिक उदारीकरण के लागू किए जाने के बाद के हिन्दी फिल्मों से है। “हिन्दी भाषा की दृष्टि से इस दौर के हिन्दी सिनेमा ने अपनी समस्त भाषाई जिम्मेदारियों को

उतार फेंका।”¹⁵ सबसे पहले इसकी वजह देखें। इस दौर में पहली बार माफिया की और आप्रवासी भारतीय के रूप में एक नए वर्ग की पूँजी ने सिनेमा में प्रवेश किया और पूँजीवादी व्यवस्था ने सिनेमा क्षेत्र पर अपना वर्चस्व प्राप्त किया जिसका चरित्र कतई देशी नहीं था। एक ओर यह बाजार के एकाधिकारी वैश्विक विस्तार का एक प्रकल्प था तो दूसरी ओर उसकी प्रवृत्ति अपराधिक छवि की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी सिनेमा का देशीपन गायब हो गया। हिन्दी सिनेमा का दर्शक जब तक प्राथमिक रूप से भारतीय था, तब तक भाषा में भी भारतीयता बची थी। लेकिन अब उसका मुख्य दर्शक आप्रवासी भारतीय हो गया है। हिन्दी भाषा में लगातार अंग्रेजी भाषा का मिश्रण हो रहा है। हिन्दी सिनेमा में पूँजीवादी लोगों का पैसा लगता है और देश के 240 मल्टीप्लैक्स एक हजार स्क्रीन्स सिनेमा घरों में निवेश करते हैं। देश भर में सिंगल स्क्रीन सिनेमा घर 10,190 हैं और दक्षिण के चार राज्यों में 7,000 सिनेमा घर हैं। देश भर में टैरेटरी सिनेमा वितरक हैं जो ओवरसीज, सैटलाईट और म्युजिक कम्पनियों का सहारा लेते हैं और देश विदेश के मल्टीप्लैक्स में सिनेमा के प्रदर्शित होने के बाद आसानी से पैसा वसूल करते हैं। आर्थिक उदारीकरण के दौर में हिन्दी सिनेमा ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में चाहे जो भूमिका निभाई है, आम जनता का प्रतिबिंब हिन्दी सिनेमा में नहीं आ रहा है।

हिन्दी फिल्मों में हिन्दी साहित्य का महत्त्व हिन्दी फिल्मों में एक समय ऐसा भी आया जब साहित्यकारों की रचनाओं उनके उपन्यासों और कहानियों को महत्त्व दिया गया और श्रेष्ठ उपन्यासों पर फिल्में बनाने के लिए दिग्दर्शक एवं निर्माताओं को बढ़ावा दिया गया। राष्ट्र की आकांक्षाओं-विचारों और प्रेरणाओं की वाहिका के रूप में हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी फिल्मों ने हिन्दी को राष्ट्रवाणी का रूप दिया। पत्रकार और साहित्यकार एवं दिग्दर्शक (निर्माता) दूरबीन के तरह काम करते हैं और हिन्दी फिल्मों द्वारा जनता में साहित्य की चेतना जगाने का श्रेय हिन्दी फिल्मों एवं साहित्यकारों की तरफ जाता है। ख्वाजा अहमद अब्बास एक प्रसिद्ध शिल्पकार थे और उनका यही कौशल उनकी लिखी पटकथाओं और फिल्मों में देखने को मिलता है। साहित्य को फिल्मों के हिसाब से अपने ऊपर प्रकाश डालना होगा। प्रसिद्ध साहित्य पर आधारित कुछ फिल्में निम्नलिखित हैं।¹⁶ 1928 : *देवदास* रचनाकार शरतचन्द्र, निर्माता नरेश मित्रा; 1942 : *परिणीत* शरतचन्द्र : निर्माता; पशुपति चटर्जी; 1966 : *मैला आंचल* फणीश्वर नाथ रेणू; *तीसरी कसम*, निर्माता बासू भट्टाचार्य; 1970 : *सारा आकाश* राजेन्द्र यादव, निर्माता बासू चटर्जी; 1974 : *यही सच है*; मन्नू भंडारी, *रजनीगंधा*, (फिल्म) निर्माता : बासू चटर्जी; 1992 : *सूरज का सातवाँ घोड़ा*, धर्मवीर भारती, निर्माता: श्याम बेनेगल; 1986 : *एक चादर मैली सी* राजेन्द्र सिंह बेदी, निर्माता : सुखवन्त ढण्डा; 1985 : *दामूल* शैवाल; निर्माता : प्रकाश झा;

1963 : *गोदान* प्रेमचन्द; निर्माता : त्रिलोक जेटली; 1966 : *गबन* प्रेमचन्द; निर्माता : ऋषीकेश मुखर्जी; 1961 : *काबुलीवाला* रवींद्रनाथ टैगोर, निर्माता : हेमेन गुप्ता; 1964 : *चित्रलेखा* भगवती चरण वर्मा, निर्माता : केदारनाथ शर्मा; 1975 : *पंडित मोशायशरतचन्द्र*; *खुशबू के फूल*; निर्माता : गुलजार; 2003 : *पिंजर* अमृता प्रीतम; निर्माता : चन्द प्रकाश द्विवेदी; 2005 : *परिणीत* शरतचन्द्र; निर्माता : प्रदीप सरकार; 2007 : *महात्म्य वरसेज गाँधी* अमृता प्रीतम *गाँधी माई फादर* (फिल्म); निर्माता : फिरोज अब्बास। इनके अलावा गुलजार ने समरेश बसू की ‘पथिक’ पर ‘*अकाल बसंत*’ और शरद बाबू की पंडित मोशाय पर *खुशबू* बनाई और कमलेश्वर की कृतियों पर *आँधी* और *मौसम* भी बनाई। “भारतीय सिनेमा में साहित्यिक कृतियों पर सर्वाधिक फिल्में सत्यजीत राय ने बनाई है।”¹⁷ उन्होंने रवीन्द्र नाथ टैगोर की कृतियों को अपनी विशिष्ट शैली के साथ सिनेमा के परदे पर उतारा है। सत्यजीत राय ने हमेशा श्रेष्ठ साहित्य को अच्छी फिल्मों में बदलने के लिए मौलिक प्रयास किए थे। साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक है यह सत्यजित राय ने अपनी कृतियों के साथ बताया है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों पर भी कई फिल्में बनीं। इन महाकाव्यों को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी सिनेमा के विकास में अहिन्दी भाषी प्रांतों का योगदान

अहिन्दी भाषी प्रदेशों में लोग हिन्दी सिनेमा को प्राथमिकता देते हैं। दक्षिण प्रान्तों में भी लोग तेलुगू और कन्नड़ के साथ हिन्दी फिल्में भी देखते हैं। हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र अहिन्दी भाषी लोगों द्वारा विकसित किया गया है। दक्षिण से आयी नायिकाओं एवं अभिनेत्रियों ने हिन्दी सिनेमा में अपना योगदान दिया है। वैजयंतीमाला, पद्मिनी, रागिनी, पंढरीबाई, हेमा मालिनी, श्रीदेवी, जयाप्रदा, रेखा आदि नम्बर वन पद पर राज कर चुकी हैं। वहीं महाराष्ट्र की तनूजा, माधुरी दीक्षित, उर्मिला मातोंडकर, स्मिता पाटील, वर्षा उसगाँवकर, अश्विनी भावे, सीमा देव, निशीगंधा भी अपने अभिनय से हिन्दी फिल्मों में अहम स्थान रखती हैं। बंगाल से आई देविकारानी, सुचित्रा सेन, अर्पणा सेन, राखी, शर्मिला टैगोर, जया भादुड़ी, ऐश्वर्य राय, सुष्मिता सेन, रानी मुखर्जी आदि अभिनेत्रियों ने हिन्दी में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। “दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार और प्रसार का कार्य जो हिन्दी संस्थाएँ और हजारों व्यक्ति नहीं कर सके वह हिन्दी फिल्मों ने कर दिखाया।”¹⁸ दक्षिण के कुछ प्रान्तों में भले ही हिन्दी का विरोध दिखाई देता है। किन्तु यह यथार्थ नहीं है। तमिलनाडु की अनेक फिल्में वहाँ के बैनर में हिन्दी में डब की जा चुकी हैं। इसी तरह ए. व्ही. एम. पद्मालय, जैमिनी, डी. रामानायडू, गणेशन, रामगोपाल वर्मा, प्रसाद प्रोडक्शन, सुरेश प्रोडक्शन, श्रीधर शंकर, प्रियदर्शन जैसे कई दक्षिण के निर्माता एवं निदेशक हिन्दी फिल्मों का निर्माण करते रहे हैं। हिन्दी फिल्मों के पितामह पुरुष दादासाहेब फालके भी अहिन्दी भाषी थे।

औरत, रोटी, मदर इंडिया जैसी महान फिल्मों के निर्माता एवं निर्देशक महबूब उर्दू भाषी थे। तमिलनाडु की भूतपूर्व मुख्यमंत्री जयललिता भी हिन्दी फिल्मों में अभिनय कर चुकी हैं। इधर दक्षिण के फिल्मकार भी अब हिन्दी फिल्म उद्योग में दिलचस्पी लेने लगे थे। “एस. एस. वासन की प्रेरणा से सी. व्ही. एम. प्रसाद और वासू मेमन ने दक्षिण के हिट फिल्मों के हिन्दी संस्करण बनाए।”¹⁹ दक्षिण की फिल्मों के फार्मूलों को हिन्दी भाषी क्षेत्रों के दर्शकों ने काफी पसन्द किया है। इसके अलावा अहिन्दी भाषी निर्माताओं एवं निदेशकों ने भी हिन्दी भाषा के विकास में योगदान दिया है। वहीं शान्ताराम, हिमांशु के राय, सत्यजित रे, ऋषिकेश मुखर्जी, जाकिर हुसैन, बी आर चोपड़ा, यश चोपड़ा, अमोल पालेकर, जब्बार पटेल, जौहर, कुणाल कोहली आदि हिन्दी के प्रचारक ही कहे जा सकते हैं। कपूर परिवार ने भी एक पीढ़ी के लिए हिन्दी के प्रचार-प्रसार में हिन्दी फिल्मों के माध्यम से योगदान दिया है। नायकों में दिलीप कुमार, अमिताभ बच्चन, विनोद खन्ना, जितेन्द्र, राजेश खन्ना, ओम पुरी, मुकेश खन्ना, राजकुमार, शत्रुघ्न सिन्हा, आशुतोष राणा, परेश रावल आदि अभिनेताओं ने हिन्दी के माधुर्य को अपनी स्पष्ट उच्चारण शैली से विकसित करने में योगदान दिया है। गायकों में “के एल सहगल, मुकेश, किशोर कुमार, मन्ना डे, येसूदास, मुहम्मद रफी, लता मंगेशकर, बाल सुब्रह्मण्यम, कविता कृष्णामूर्ति, अनुराधा पौडवाल, वैशाली सावंत, सुदेश भोंसले, आशा भोंसले से लेकर आज की श्रेया घोषाल और अभिजीत सावन्त तक अधिकांश हिन्दीतर गायकों ने अपनी सुमधुर गायन की अदा देश विदेश में बिखेरकर हिन्दी का प्रचार-प्रसार ही किया है।”²⁰ इस प्रकार, हिन्दी प्रचार-प्रसार में हिन्दी सिनेमा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विदेशों में हिन्दी फिल्मों का प्रभाव विदेशों में भारतीय हिन्दी फिल्मों का प्रचार-प्रसार बड़ी मात्रा में हुआ है। हॉलीवुड के बाद जैसा कि पहले भी बताया गया है कि भारत विश्व में फिल्म निर्माण में आगे रहा है। “वर्ष 1991 में कुल मिलाकर 910 फिल्में बनानेवाला भारत विश्व का सर्वाधिक फिल्म निर्यातक देश बन चुका है।”²¹ यहाँ सारे विषयों पर फिल्में बनती हैं। हिन्दी फिल्में भारतीय उपमहाद्वीप के अलावा विश्व के बहुत सारे देशों, विशेष कर खाड़ी के देश तथा रूस इत्यादि में भी देखी जाती हैं। पश्चिमी देशों में भी हिन्दी फिल्मों के दर्शकों का एक बड़ा एशियाई वर्ग समूह है। “राजकपूर और नर्गिस की जोड़ी सोविएत संघ में बहुत प्रसिद्ध हुई।”²² संसार के अन्य देशों में भी हिन्दी फिल्मों को अत्यंत लोकप्रियता मिली है। चीन में भी हिन्दी फिल्मों को डब किया जाता है। चीन में *दो बीघा जमीन*, *गंगा जमुना*, *लाडला*, *नाम* आदि अनेक फिल्में लोकप्रिय हैं। *जरा सी भूल* हॉलीवुड की पहली हिन्दी फिल्म है। यह एक मध्यम बजट की फिल्म है।²³ इस प्रकार विदेशों में भी हिन्दी फिल्मों का प्रचार-प्रसार हुआ है। मुम्बई हिन्दी फिल्मों के निर्माण का प्रमुख स्थल है।²⁴ हॉलीवुड

मुम्बई स्थित दुनिया का सबसे व्यस्त फिल्म उद्योगों में से एक है और हॉलीवुड में बेहतरीन कलाकार हैं। फिर विदेशी हॉलीवुड फिल्मों में भी भारतीय अभिनेत्रियों ने बढ़त की है। दुनिया भर में आज कल ग्लोबलायजेशन का शोर है। यूरोप, अमेरिका में बॉक्स ऑफिस पर हिन्दी फिल्में कामयाबी का परचम लहरा सकीं। ओमान, शरजाह, दुबई और सउदी अरब में हिन्दी फिल्मों का अच्छा बाजार है। मीरा नायर की *सलाम बाम्बे*, *मानसून वैडिंग* और *द नेम सेक* जैसी फिल्में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अच्छी चलीं। अप्रवासी भारतीय फिल्मकार दीपा मेहता ने भी मीरा नायर जैसी फिल्में बनाईं। “1991 में *सैम एंड मी* बना कर दीपा मेहता पहली बार सुखियों में आईं। इसके बाद *हॉलीवुड-हॉलीवुड* और *फायर* जैसी फिल्मों के सहारे दीपा ने काफी हलचल मचाई।”²⁵ फिल्म प्रदर्शन के बाद इस फिल्म को भरपूर सराहना मिली। *वाटर* को सर्वश्रेष्ठ विदेशी फिल्मों के वर्ग में आस्कर नॉमीनेशन मिला और भारत में और विदेशों में एन. आर. आई. सिनेमा का सिलसिला आदित्य चोपड़ा की फिल्म *दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे* से शुरू हुआ। *यस बॉस*, *परदेश*, जैसी फिल्मों ने भी विदेशों में दर्शक जुटाए। आइफा के बाद वहाँ हालात बदले और भारत की 40 फिल्मों का प्रदर्शन दक्षिण अफ्रीका और नीदरलैंड में शुरू हुआ। विदेशों में भारतीय फिल्मों का बाजार विकसित हो रहा है। हॉलैण्ड के मूल निवासी भी हिन्दी फिल्मों को बड़ी रुचि के साथ देखते हैं। विश्व भर में हिन्दी फिल्मों का समाज पर बड़ा प्रभाव है।

भारत में सिनेमा की संरचना और हिन्दी सिनेमा 1990 में भारत में 80 सिनेमा निर्माता घर थे और साल भर में बनने वाली फिल्मों की संख्या भी कुल 40 या 45 होती थी। आज हम देखते हैं डिजिटल सिनेमा युग में हिन्दी सिनेमा की संख्या दिनोदिन बढ़ रही है। यह युग सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। “एक साल में हिन्दी और दूसरी भाषाओं में एक हजार से ज्यादा फिल्मों का निर्माण होता है।”²⁶ जिन्हें तेरह हजार से ज्यादा सिनेमा घरों की सहायता से रिलीज किया जाता है। 1925 में बनी हिमांशु राय की फिल्म *लाइट ऑफ एशिया* को ओवरसीज मार्केट में भी रिलीज किया गया था। विदेशों में अच्छा खासा बाजार उपलब्ध है। फिल्म निर्माण, वितरण, प्रदर्शन को आज एक महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि के रूप में देखा जाता है। दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्मों का निर्माण भारत में होता है। 20 से ज्यादा भाषाओं में एक हजार से ज्यादा फिल्में बनीं। फिल्मों का औसत बजट 25 करोड़ रुपए, 11 क्षेत्रों में डिस्ट्रीब्यूशन नेटवर्क, साथ में ओवरसीज मार्केट, सेटलाइट टीवी मार्केट, डीवीडी मार्केट। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि देश की अर्थव्यवस्था में हिन्दी सिनेमा उद्योग आज एक अहम स्थान रखता है और मल्टीप्लस सिनेमा घरों की तेजी से बढ़ती लोकप्रियता ने इस उद्योग को नया आयाम दिया है। “डिजिटल” सिनेमा की नई तकनीक है। इसके आगमन से सिनेमा के पारम्परिक स्वरूप में परिवर्तन आया है।”²⁷ अब

कम्प्यूटर पर बनाए गए पात्र अभिनय करेंगे एवं वास्तविक अभिनेताओं की उपस्थिति बहुत कम हो जाएगी। सूचना प्रौद्योगिकी के दौर में व्यावसायिक फिल्मों का निर्माण अधिक हो रहा है। आने वाले काल में हिन्दी सिनेमा इंटरनेट पर भी प्रदर्शित होंगे। आज हिन्दी सिनेमा बेब कास्टिंग का दौर शुरू हो चुका है। इससे सिनेमा घरों को नुकसान हो सकता है।

ऑस्कर में हिन्दी फिल्मों का भविष्यविदेशों के अभिनेताओं एवं कला कृतियों को ऑस्कर पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है। विश्व में अधिकांश हॉलीवुड फिल्मों को ही ऑस्कर अवार्ड मिला है। भारतीय नागरिक कॉस्ट्यूम डिजाइनर भानू ने ऑस्कर पुरस्कार अवार्ड हासिल किया है। ऑस्कर पुरस्कार के लिए निम्नलिखित फिल्में भेजी गईं। 1957 में *मदर इंडिया* का नॉमीनेशन हुआ। यह फिल्म महबूब खान ने बनाई थी। 1988 में *सलाम बाम्बे*, मीरा नायर की फिल्म नामित की गई। इसके बाद 2001 में *लगान*, आशुतोष गोवरीकर की फिल्म को नॉमीनेशन मिला।²⁸ *परिदा*, *हिना*, *रुदाली*, *मुहाफिज*, *1947 अर्थ*, *देवदास* (हिन्दी फिल्में) *अंजली* (तेलुगु), *थेवर मगन* (तेलुगु), *इंडियन* (तमिल), *गुरु* (मलयालम), *हे राम* (तमिल), *जीस* (तमिल), *कुरुधि पुनाल* (तेलुगु) आदि फिल्में नॉमीनेशन से भी वंचित रही। क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्मों में गुणवत्ता बनाने के दिशा में प्रयास करने की जरूरत है। इससे क्षेत्रीय भाषा के सिनेमा का ऑस्कर पाना सम्भव हो सकता है। भारत के जाने-माने दिग्दर्शक एवं निर्माता सत्यजित राय को ऑस्कर मिला है। *स्लॉमडॉग* को भी ऑस्कर मिला है। लेकिन यह फिल्म ब्रिटिश दिग्दर्शक ने बनाई है। संगीत दुनिया के बादशाह ए. आर. रहमान को ऑस्कर अवार्ड मिला है और हॉलीवुड के करीब भारत ने भी हिन्दी सिनेमा की अपनी विश्व में पहचान बना ली है। बॉलीवुड की प्रतिभा के लिए वैश्विक दरवाजे खुले हैं। अब अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय भारतीय हिन्दी सिनेमा की तरफ आकर्षित होने लगा है।

भारतीय हिन्दी सिनेमा का सफर आज नई डिजिटल तकनीक, वैज्ञानिक आधार तथा नए सामाजिक मूल्यों के प्रतीक बन गया है। आज भारत विश्व में हॉलीवुड के बाद सबसे ज्यादा फिल्म बनाने वाला देश बन गया है और दक्षिण भारत की फिल्मों का मूल्य लगभग बॉलीवुड के बराबर है। यह सच है कि हिन्दी फिल्मों के निर्माण में सहयोग करने वाले अधिकांश व्यक्ति अहिन्दी भाषी रहे हैं। मराठी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, बंगाली जैसी विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति हिन्दी के प्रवाह को गतिमान रख रहे हैं। इसके अलावा गायकों एवं संगीतकारों ने भी हिन्दी भाषा में योगदान दिया है और दक्षिणात्य अभिनेत्रियाँ एवं अभिनेताओं ने भी हिन्दी सिनेमा को बढ़ावा दिया है। विदेशों में कान समारोह एवं आइफा समारोह और ऑस्कर में भी हिन्दी सिनेमा को स्थान मिल रहा है। वैश्विक स्तर पर हिन्दी के

प्रचार-प्रसार एवं हिन्दी भाषा के विकास में आप्रवासी भारतीय लोग योगदान दे रहे हैं और आप्रवासी भारतीय हिन्दी सिनेमा में पैसा लगाकर मल्टीप्लेस सिनेमा से भरपूर पैसों की कमाई करने लगे हैं। डिजिटल सिनेमा की वजह से हिन्दी फिल्मों में गुणवत्ता आई है। लेकिन हिन्दी सिनेमा दर्शक जब तक भारतीय था तब तक भाषा में भारतीयता बची थी। वैश्वीकरण से भाषा का रूप स्वरूप बदल रहा है और अंग्रेजी भाषा मिश्रित हिन्दी का रूप इसका स्वरूप बन गया है। आज फिल्में जनसंचार माध्यम और हिन्दी के विकास का एक सशक्त आधार बन गई हैं। हिन्दी फिल्मों ने हिन्दी के फैलाव का काम हिन्दी साहित्य की अपेक्षा ज्यादा किया है। हिन्दी बोलचाल को प्रसारित करने में सिनेमा की भूमिका अहम रही है। हिन्दी भाषा और हिन्दी सिनेमा का सम्बन्ध गहरा रहा है। भविष्य में भी यह सम्बन्ध बना रहेगा, क्योंकि विदेशी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष करने के लिए एवं भारतीय संस्कृति को बचाने में हिन्दी भाषा और हिन्दी सिनेमा सदैव तत्पर रहेंगे।

सन्दर्भ

1. प्रियंका वाधवा, राकेश नैम, *पत्रकारिता के विविध सिद्धान्त*, रजत प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 67
2. चन्द्रभूषण 'अंकुर', *हिन्दी फिल्में*, राहुल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण 1994, पृ. 50
3. विजयकुमार आनन्द/राकेश नैम, *इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं सूचना प्रौद्योगिकी*, पृ. 107
4. डॉ. अर्जुन तिवारी, *जनसंचार और हिन्दी पत्रकारिता*, पृ. 94
5. श्याम माथुर, *सिने-पत्रकारिता*, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 5
6. डॉ. अर्जुन तिवारी, *जनसंचार और हिन्दी पत्रकारिता*, पृ. 94
7. वही, पृ.-95
8. *भारत 2005-वार्षिक सन्दर्भग्रन्थगवेषणा सन्दर्भ* और प्रशिक्षण विभाग, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ.-573
9. वही, पृ.-573
10. डॉ. कृष्णकुमार रत्नू *सूचना तंत्र और प्रसारण खंड II* प्रथम संस्करण 2001, पृ. 156
11. श्याम माथुर, *सिनेपत्रकारिता*, पृ. 68
12. *स्मरणिका, राष्ट्रीय संगोष्ठी*, 12, 13 अक्टूबर 2008, श्रीमती केशरबाई लाहोटी महाविद्यालय, अमरावती, पृ. 51

13. वही, पृ. 52
14. श्याम माथुर, *सिनेपत्रकारिता*, पृ. 101
15. डा. मुकुल श्रीवास्तव, *सिनेमा में विस्मृत होता साहित्य*, संचारश्री, अक्टूबर-दिसम्बर 2007, पृ. 14
16. वही, पृ. 15
17. श्याम माथुर, *सिने पत्रकारिता*, पृ. 384
18. स्मरणिका, *राष्ट्रीय संगोष्ठी*, पृ. 70
19. श्याम माथुर, *सिने पत्रकारिता*, पृ. 70
20. स्मरणिका, *राष्ट्रीय संगोष्ठी*, पृ. 71
21. प्रियंका वाधवा/राकेश नैम, *पत्रकारिता के विविध रूप एवं सिद्धान्त*, पृ. 73
22. डॉ. कृष्णकुमार रत्नू, *सूचना और तंत्र और प्रसारण-खंड II*, पृ. 204
23. वही, पृ.-207
24. ओमगुप्ता, *प्रसारण और फोटो पत्रकारिता*, कानिका पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ.-73
25. श्याम माथुर, *सिनेपत्रकारिता*, पृ.-111
26. वही, पृ.-167
27. विजय कुमार आनन्द, *इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं सूचना प्रौद्योगिकी*, पृ.-134
28. www.oscar.com/2009

भारत है संज्ञा विराग की उज्ज्वल आत्मउदय की : 'दिनकर'

श्रीराम परिहार

रामधारी सिंह 'दिनकर' की काव्य-चेतना भारत-राष्ट्र की सांस्कृतिक धारा की रसवन्ती है। भारत की राष्ट्रीय भाव-धारा 1857 की लड़ाई या उसके बाद उपजी चेतना नहीं है, वह 'महाभारत काल' के भी पूर्व में जन्मा और घनीभूत होता राग-भाव है। 'महाभारत' के 'भीष्मपर्व' में धृतराष्ट्र संजय से उस भरत भूमि के प्रति जिज्ञासु हैं, जिसे प्राप्त करने की लालसा उनके पुत्र दुर्योधन के भीतर बलवती है और पांडव भी जिसे धर्मयुद्ध से पाना चाहते हैं

*यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम् ।
यत्राति मात्र लुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम् ॥
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः ।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वंहि मे बुद्धिमान मतः ॥*

रामधारी सिंह 'दिनकर' इसी अनादि भारत की सांस्कृतिक पीठिका पर बैठकर वर्तमान में राष्ट्र-चिन्तन करने वाले कवि हैं। राष्ट्रीयता उनके काव्य का प्रधान स्वर है। राष्ट्रीय भाव की कविता में अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में माखनलाल चतुर्वेदी कहते हैं—“राष्ट्रीय कविता क्या है? राष्ट्रीय कविता केवल खून, फाँसी, हथकड़ी, बेड़ियों की कविता नहीं है; राष्ट्र की प्रत्येक चीज पवित्र है; गौरव की वस्तु है। राष्ट्र को मैं विशाल और महान मानता हूँ। उसे मैं समस्त भूतकाल से लेकर भविष्यकाल की नाप से नापता हूँ। ऐसी ही सनातन राष्ट्रवाणी है। राष्ट्रीय कविता खुँघरू बाँधकर ही मनोरंजन नहीं करती या मधुर अलापों से माधव का गायन ही नहीं करती, किन्तु वही युद्ध के प्रभावकाल में लंकाकाण्ड का भीषण रूप भी धारण कर लेती है और सैनिकों को बलि-पथ पर आमंत्रित करती हैं।”

* डॉ. श्रीराम परिहार, आजाद नगर, खण्डवा 450001

‘दिनकर’ के काव्य में राष्ट्रीयता वायवीय रूप में कम अन्तःसौन्दर्य के रूप में अधिक अभिव्यक्त हुई है। स्वाभाविक है कि यह आन्तरिक सौन्दर्य कवि के सांस्कृतिक-बोध से जन्मा है। इस सांस्कृतिक-सौन्दर्य के निर्माण के मूल में मनुष्य समुदाय है। उनकी दृष्टि मूलतः व्यष्टि नहीं, समष्टि पर है और समूह-चेतना के अस्तित्व की चिन्तना वे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्यों में करते हैं, जिसका खुलासा युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के संवादों द्वारा ‘कुरुक्षेत्र’ में हुआ है।

*महाभारत नहीं था द्वन्द्व केवल दो घरों का,
अनल का पुंज था इसमें भरा अगणित नरों का।
न केवल यह कुफल कुरुवंश के संघर्ष का था,
विकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का था।*

‘दिनकर’ अपने सांस्कृतिक-राष्ट्रीय चैतय में तीन तरह से प्रकट होते हैं। प्रथमवे कविताएँ जिनमें राष्ट्र-प्रेम समसामयिक सन्दर्भों के साथ तीव्रता से उद्घाटित होता है। द्वितीयवे कविताएँ जहाँ ‘इतिहास दृष्टि’ पुराण के प्रसंगों का अधार लेकर अपने सांस्कृतिक मूल्यों को समेटकर बैठी हैं। ‘दिनकर’ की ‘इतिहास दृष्टि’ से जहाँ एक नहीं अनेक प्रश्न पैदा होते हैं युद्ध, दण्ड-नीति, दनुजता, दासत्व, अविश्वास, भोग-लिप्सा, पारस्परिक कलह, अत्याचार, स्वत्व-रक्षण से जुड़े हुए। युधिष्ठिर आत्मविगलित हो कहते हैं

*पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।*

तृतीयवे कविताएँ जिनमें कवि भारत के भूमा सौन्दर्य का वर्णन करता है। नदी-वन-पर्वत-खेत-खलिहान, सुबह-साँझ, पुष्प-लता, पशु-पक्षी, हिमगिरि-सिन्धु का सौन्दर्य चित्र शब्द-शब्द में उकेरता है।

‘दिनकर’ अपने काव्य में राष्ट्र के प्रति केवल उद्बोधन अथवा उपदेश तक सीमित नहीं हैं, संस्कृति के प्रति अटूट आस्था, मानव की शक्ति में दृढ़ विश्वास, अन्त्यजों के प्रति सहानुभूति, परिवर्तन के प्रति उत्साह और जीवन मूल्यों की रक्षा का स्वर बार-बार उनकी कविताओं में गूँजता है। यही नहीं; कविता ही इन सबकी सुरक्षा में कारगर हो सकती है यह विश्वास ‘क्रान्ति-धात्रि कविते’ कहकर व्यक्त हुआ है। राष्ट्रीय जागरण की शक्ति वे अतीत में तलाशते हैं ‘जागो गौतम, जागो महान, जागो अतीत के क्रान्ति गान’ कहकर वे भारत-राष्ट्र की ‘धर्म-सत्ता’ को ही वर्तमान के विध्वंसक दौर में स्थापित करना चाहते हैं। इसलिए अपने समय के महान पुरुष में इस धर्म-तत्व के दर्शन करते ही वे गाँधी के बारे में कह उठते हैं ‘तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी।’ भारत का राष्ट्रध्वज उन्हें ‘मंगल-मूर्ति तिरंगा प्यारा’ लगता है। इसके मूल में ‘दिनकर’ का वह सांस्कृतिक मनोगत है जो

पुरातन-अर्वाचीन, परम्परा-आधुनिकता, विराग-अनुराग, विरक्ति-आसक्ति, व्यष्टि-समष्टि, अतीत-वर्तमान-भविष्य की परिमिति को लौंघकर अभिव्यक्त होता है

*भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जाने वाला।
भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लाने वाला ॥
भारत एक भाव जिसको पाकर मनुष्य जगता है।
भारत एक जलज जिस पर जल का न दाग लगता है ॥
भारत है संज्ञा विराग की उज्ज्वल आत्मउदय की।
भारत है आत्मा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की ॥*

रामधारी सिंह ‘दिनकर’ भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता और उसके लिए किए जा रहे संघर्ष को जीवन-मूल्य तथा ‘स्वधर्म और स्वराज्य’ का अनिवार्य उपादान मानते हैं। उन की रचना-भूमि में 1857 का स्वतंत्रता संग्राम उत्प्रेरक का काम करता है। जिस स्वतंत्रता संग्राम के लिए विनायक दामोदर सावरकर 10 मई, 1908 को सायं 4 बजे इण्डिया हाऊस 65 क्रामवेल एवेन्यु, हाईगेट-लंदन उत्तर के भवन परिसर में 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पहली 50 वीं वर्षगाँठ के अवसर पर ‘हे हुतात्माओ’ शीर्षक से दिए गए अपने भाषण में कहते हैं “जब भी कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के लिए उत्तिष्ठ हो उठता है, जब भी किसी राष्ट्र के पितृ-भू के रक्त में स्वतंत्रता के जीवाणु लहकने लगते हैं, स्वतंत्रता का शुक्र-बीज अंकुरित हो उठता है और जब तक ऐसे पितृ-भू का एक भी पुत्र रक्त का प्रतिशोध लेने के लिए जीवित रहता है, तब तक ऐसे ‘स्वातंत्र्य समर’ का कभी भी अंत नहीं होता, वह चलता रहता है, सतत् गतिमान रहता है। मेरे देश बन्धुओं, 1857 का ‘स्वाधीनता संग्राम’ आज भी जारी है ‘स्वातंत्र्य समर’ और भी शेष है। कोई भी क्रान्ति-युद्ध संधि-अंतरिम संधि की सरहदों पर नहीं रुकता। केवल एक ही शर्त होती है, एक ही लक्ष्य, या तो ‘पूर्ण स्वतंत्रता’ अथवा ‘महामृत्युवरण’।” (विनायक दामोदर सावरकर का ‘हे हुतात्माओ’ शीर्षक से ‘साहित्य अमृत’, दिल्ली अगस्त, 2008 में प्रकाशित लेख, पृष्ठ 27-28, अनुवादकवीरेन्द्र अग्रवाल)।

जस्टिन मैकार्थी ने कहा है “वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय प्रायद्वीप के सम्पूर्ण उत्तरी एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध जातियों ने विद्रोह कर दिया था। केवल सिपाहियों ने ही विद्रोह नहीं किया, इसे कोरी ‘सैनिक क्रान्ति’ का नाम नहीं दिया जा सकता। यह तो भारत पर आंग्ल सत्ता के विरुद्ध सैनिक कठिनाइयों, राष्ट्रीय घृणा और धार्मिक कट्टरता का संयुक्त उभार था। इसमें देशी राजाओं और सैनिकों ने भी भाग लिया। मुसलमानों और हिन्दुओं ने अपने शताब्दियों के धार्मिक विरोध को भुलाकर ईसाइयों के विरुद्ध हाथ मिलाए थे। घृणा और चिन्ता ने इस महान विद्रोही आन्दोलन को प्रोत्साहित किया था।” (‘रचना’, भोपाल, जनवरी-अप्रैल, 2008 में

प्रकाशित लेख से उद्धृतपृ. 11)।

उक्त कथन में 'घृणा और चिन्ता' शब्द विशेष ध्यातव्य हैं। ये दोनों तथ्य कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी बहुत गहरे बैठे हुए हैं। कुरुक्षेत्र की रचना-प्रेरणा में 'कलिंग विजय' की कविता के दौरान कौंधते प्रश्नों की चमक सक्रिय रही है; यह बात 'दिनकर' ने कुरुक्षेत्र की भूमिका में स्पष्ट की है, लेकिन देश और काल की प्रतिच्छायाएँ और प्रतिध्वनियाँ इतनी सूक्ष्म और तीखी होती हैं कि वे व्यापक संवेदना वाले रचनाकार के भीतर धँसकर गुप्त रूप से रचना-प्रक्रिया को सशक्त बनाती हैं। इनकी भूमिका व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर सोचते हुए रचनाकार को 'स्वधर्म और स्वराज्य' की चिन्ताओं के समाधान के चिन्तन के लिए तत्पर करती हैं। 'दिनकर' इसी चिन्तन-प्रक्रिया से प्रसूत निर्णय के आधार पर 'यह देश एक है' निबन्ध में कहते हैं—'धार्मिक विश्वास की एकता मनुष्यों की सांस्कृतिक एकता को जरूर पुष्ट करती है। इस दृष्टि से, एक तरह की एकता तो वह है, जो हिन्दू समाज में मिलेगी, जो मुस्लिम समाज में मिलेगी, जो पारसी-क्रिस्तानी समाज में मिलेगी, लेकिन धर्म के केन्द्र से बाहर जो संस्कृति की विशाल परिधि है, इसके भीतर बसने वाले सभी भारतीयों के बीच एक तरह की सांस्कृतिक एकता भी है, जो उन्हें दूसरे देशों के लोगों से अलग करती है।... यही वह सांस्कृतिक एकता या शक्ति है, जो भारत को एक रखे हुए है। यही वह विशेषता है जो उन लोगों में पैदा होती है, जो एक देश में रहते हैं, एक तरह की जिन्दगी बसर करते हैं। एक तरह के दर्शन और एक तरह की आदतों का विकास करके एक राष्ट्र के सदस्य हो जाते हैं।' (हमारी सांस्कृतिक एकता पुस्तक से जिसका एक निबन्ध 'साहित्य अमृत', अगस्त, 2008 में 'प्रतिस्मृति' स्तम्भ में प्रकाशित हुआपृ. 10-11)।

इस सांस्कृतिकता का एक महत्वपूर्ण और मुख्य तत्व है 'सत्य'। दूसरा तत्व है 'अहिंसा'। इन दोनों के द्वन्द्व से जन्मा है 'दिनकर' का कुरुक्षेत्र' खण्डकाव्य। क्या सत्य की रक्षा के लिए हिंसा का सहारा अनिवार्य हो जाता है? क्या 'गाँधी' की रक्षा 'गाँधीगिरी' से नहीं हो सकती है? अन्याय के प्रतिकार का युद्ध से इतर कोई उपाय है या नहीं? क्या युद्ध समूहगत भावना का परिणाम है या सत्ता-लोलुप व्यक्ति की आकांक्षा का दुष्फल? क्या युद्ध व्यक्ति का स्वभाव है? देश और काल के पार इतिहास में व्यक्ति-सत्य से निरपेक्ष 'एक ऐसा भी पुरुष है, जो विकल बोलता कुछ भी नहीं, पर रो रहा मग्न चिन्तालीन अपने-आप में।' वह पुरुष धर्मराज युधिष्ठिर है, जो सोच रहा है 'पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से, हो गया संहार पूरे देश का।' जो यह भी सवाल उठा रहा है कि आदमी के रक्त से सना राज्य भोगने लायक है भी या नहीं? दिनकर 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका में प्रश्न को खोलते हैं—'युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने

के लिए आतुर है? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शान्ति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी; तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शान्ति का भंग नहीं करना चाहिए था?" (भूमिका, कुरुक्षेत्र)। भीष्म और युधिष्ठिर का आलम्बन लेकर 'दिनकर' ने इस पागल कर देने वाले प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की है। इस प्रयास में वह यह भी स्पष्ट करते हैं—'मैं जरा भी दावा नहीं करता कि 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर, ठीक-ठीक, महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म हैं।' (भूमिका, कुरुक्षेत्र)

युधिष्ठिर के भीतर जन्मा युद्ध के बाद का ग्लानि-भाव उनके आदर्श मन का शुचितम उद्भाव है। यह ग्लानि, युद्ध के प्रति घृणा और मनुष्य के अभिमान के प्रति वितृष्णा से उन्हें भर देती है। युधिष्ठिर के प्राण का परिताप इतना आवेगमय है कि वह हस्तिनापुर के लिए लड़ी गई लड़ाई में हार किसकी और जीत किसकी या कैसी; इसकी अन्तरसंधि के पार धकेल दिए जाते हैं। कृष्ण द्वारा कहा गया ज्ञान-वाक्य 'युद्ध अनघ है' भी उन्हें विभ्रम से बाहर नहीं निकाल पाता। नरसंहार उनकी दृष्टि में पाप कर्म और राजसुख लोहू-भरी कीच का कमल है।

एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है।
जानता हूँ, लड़ना पड़ा हो विवश, किन्तु,
लोहू-सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है।
ध्वंसजन्य सुख या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य,
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है।
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है। (कुरुक्षेत्र, पृ. 12)।

युधिष्ठिर का विरक्ति-संघनन और पश्चाताप-परिताप इतना प्रबल है कि वह या तो वन में अकेला भाग जाना चाहते हैं या भाइयों के संग कहीं भीख माँग-माँग कर मर जाना चाहते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, विवेक-अविवेक, पुण्य-पाप के ध्रुवान्तों से बार-बार टकराते हैं और युधिष्ठिर के भीतर दुःख से, खेद से, निर्वेद के आघात से साकार होते आदर्श मानव की नियति पर विचार करते हैं। विचार करते हैं और भीष्म पितामह की वाणी में बैठकर युद्ध-जनित गूढ़ प्रश्नों के तर्कसम्मत और युगानुकूल उत्तर देते हैं। लगता है भीष्म में भारतवर्ष का शौर्य उवाच रहा है और दुष्परिमेय शोक में डूबे कौन्तेय के रूप में भारत-जन का संस्कृति-मन सुन रहा है, गुन रहा है, शान्ति की खोज में स्वयं के कर्म का अनुताप नाप रहा है। पितामह भीष्म व्यक्ति के अभिमान, जन-जन में विकारों की जलती शिखाओं और क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल, ईर्ष्या, द्वेष से धधकते समुदाय के आकाश को युद्ध के मूल में स्थित

पाते हैं और इनके परिशमन और प्रतिकार के लिए युद्ध को अनिवार्य मानते हैं

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,
जल तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ।
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है। (कुरुक्षेत्र, पृ. 17)।

धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा उठाए गए पाप-पुण्य के सवाल को 'दिनकर' ने पितामह भीष्म के द्वारा उत्तरित करते हुए उन्हें एक भावात्मक किन्तु तार्किक विस्तार दिया है तथा उन्हें 'स्वधर्म' और 'स्वराज' से जोड़ा है। भारतीय मनीषा ने स्वधर्म और स्वराज्य तथा सुराज का पारस्परिक सम्बन्ध माना है। मैजिनी का कथन था "स्वर्ग और भूतल में कोई दूर का अन्तर नहीं है, अपितु ये दोनों एक ही वस्तु के दो कोण हैं; उसी भाँति पौर्वात्य मन की यह परिपक्व धारणा और विश्वास रहा है। इस स्वधर्म की कल्पना भी स्वराज्य से भिन्न नहीं है, ये दोनों ही साध्य और साधन के रूप में परस्पर संलग्न हैं। स्वधर्म के अभाव में स्वराज्य भी त्याज्य है और स्वराज्य के न होने पर स्वधर्म भी बलहीन होता है।" ('रचना', जनवरी-अप्रैल, 2008, पृ. 9)। 'दिनकर' ने भी कुछ इसी तरह स्वधर्म और स्वराज्य से संपृक्त मूलभूत तथ्यों को उजागर करते हुए तप, करुणा, क्षमा को व्यक्ति धर्म और स्वधर्म की शोभा स्वीकार किया है, लेकिन जब स्वराज्य की रक्षा या समुदाय के हित का प्रश्न आ उपस्थित होता है, तब महाभारत की अनिवार्यता भी स्वीकार की है; क्योंकि इस भूतल को स्वर्ग बनाने के लिए यह परिस्थिति विशेष में जरूरी भी हो जाता है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में राम के मुख से इसी स्वधर्म और स्वराज्य, भूतल और स्वर्ग की पारस्परिकता को उद्घाटित कराया है 'संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।' 'दिनकर' भी स्वधर्म को स्वराज्य से एकीभूत करते हुए पाप-पुण्य को परिभाषित करते हैं

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है। (कुरुक्षेत्र, पृ. 16)।

ज्ञात है कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ काव्य रामायण, महाभारत और ओडिसी युद्ध काव्य हैं। 'स्वधर्म के लिए उठो और स्वराज्य की स्थापना करो।' इस तत्व ने भारत सहित संसार में कितने दैविक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चमत्कार किए हैं। उपनिषद के 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नि बोधते' उठो, जागो और अपने प्राप्य को प्राप्त करो में स्वधर्म आलोकित हो रहा है। स्वामी समर्थ रामदास ने आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व मराठों के माध्यम से भारतवासियों को यही आह्वान किया था

धर्मासाठी मरावें, मरोनी अवध्यांसि मारावें।
मारिता मारिता ध्वावें, राज्य आपुले ॥

भारत-राष्ट्र की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए भारत का जन-मानस उत्कट राष्ट्रीय भावनाओं से आन्दोलित था, ऐसे समय कवि 'दिनकर' का उदय हुआ। ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध, विद्रोह, विध्वंस और विप्लव का स्वर सब कहीं सुनाई पड़ रहा था। स्वतंत्रता राष्ट्रीय स्तर पर और वैयक्तिक स्तर पर दोनों जगह अपना महत्व और मूल्य रखती है। 'स्वतंत्रता जाति की लगन है, व्यक्ति की धुन है, वह बहती हुई वस्तु नहीं, भीतरी गुण है।' यह रहस्य कवि 'दिनकर' जानते हैं। समता-स्वतंत्रता की स्थापना और उसके प्रति गंभीर चिन्तन भारत का वैशिष्ट्य है, 'दिनकर' का कवि राष्ट्रीय समरांगण में दहाड़ उठता है

दहक रही मिट्टी स्वदेश की, खौल रहा गंगा का पानी,
प्राचीरों से गरज रही है, जंजीरों में कसी जवानी।
अर्पित करो समिध, आओ हे, समता के अभिमानी,
इसी कुण्ड से निकलेगी, भारत की लाल भवानी ॥

रामधारी सिंह 'दिनकर' का समय स्वतंत्रता-आन्दोलन का था। अंग्रेजों की भारत को उपनिवेश बनाकर रखने की नीति और भारत-जन पर उनके दमन-चक्र के प्रति आक्रोश 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और भीष्म के प्रश्नों प्रतिप्रश्नों में मुखर हुआ है। आलोचकों ने 'दिनकर' की कविता को क्रोध की कविता भी कहा है। देश के लिए यदि गाँधी (शान्ति) की रक्षा करनी है, तो तलवार उठाना भी जरूरी है। जिन स्थानों को देखकर हम जीवन का सम्पूर्ण देख सकते हैं, पा सकते हैं, उन स्थानों पर हमें निरा पत्थर और पानी दिखाई देने लगे, तो यह दृष्टि की खोट है। अतः दृष्टि का बदला जरूरी हो जाता है। 'दिनकर' शान्ति और युद्ध के दोलन में कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग और सप्तम सर्ग में झूलते हैं। 1909 में गाँधी जी हिन्द स्वराज्य में जिन मुद्दों पर गहन चिन्तन करते हैं, उन्हीं शान्ति, अहिंसा, तप, त्याग, प्रेम जैसे बिन्दुओं पर 'दिनकर' कुरुक्षेत्र में सोचते हैं। 1921 में गाँधी जी ने हिन्द स्वराज्य पुस्तक के बारे में कहा था "यह द्वेषधर्म की जगह प्रेमधर्म सिखाती है, हिंसा की जगह आत्मबल को रखती है। पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है (हिन्द स्वराज्यउपेक्षा, पृ. 8)।" स्वतंत्रता संग्राम है। स्वधर्म है। स्वराज्य है। भारत की सांस्कृतिक विरासत है। गाँधी है। तिलक है। गोखले हैं। उग्रवादी हैं। क्रान्तिकारी हैं। लगता है असहयोग, अवज्ञा, नमक, सत्याग्रह, उपवास का आचरणकर्ता गाँधी ही का रूप कुरुक्षेत्र का युधिष्ठिर है और उग्रवादी नेता या भारत का क्रान्तिकारी मानस भीष्म पितामह के रूप में कुरुक्षेत्र में बोल रहा है।

दिनकर के सामने उनका समय है। उस समय में उपजी विज्ञान-उद्योग-शोषण की विद्रूपताएँ हैं। 'दिनकर' युधिष्ठिर के बहाने बहुत गहरे में अपने समय की खँगाल करते हैं। दर्शन की मनोमय भूमि पर ही खड़े नहीं हैं, उसके पहले वे अन्नमय और विज्ञानमय कोष की गलियों में खड़े प्रश्नों को समादृत करते हैं। मस्तिष्क और हृदय की फाँकों को वे मानवता के लिए खतरनाक मानते हैं और यह सच आज हमारे सामने नग्न रूप में खड़ा है। 'किन्तु, बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष, छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश।' इसलिए समन्वय और संतुलन आवश्यक है। शान्ति के लिए युद्ध आवश्यक है। रक्षा के लिए भी युद्ध आवश्यक है। केवल भाग्य के भरोसे जीवन नहीं जिया जा सकता। कर्म और कर्म ही अन्तिम साधन है, सत्य है।

*ब्रह्मा से कुछ लिखा भाग्य में, मनुज नहीं लाया है,
अपना सुख उसने अपने, भुजबल से ही पाया है।
नर-समाज का भाग्य एक है, वह श्रम, वह भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई पृथिवी, विनीत नभ-तल है।*
(कुरुक्षेत्र, सप्तम सर्ग, पृ. 79-81)

इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द्र की 'दो बैलों की कथा' का वह प्रसंग याद आता है, जब रास्ते में हीरा-मोती को सामने से सांड डौंकता हुआ उनकी तरफ आता दिखाई देता है। सांड हाथी जैसा बलिष्ठ है। उससे भिड़ना जान से हाथ धोना है, लेकिन न भिड़ने पर भी तो जान बचती नजर नहीं आती है। "मोती ने कहा 'भाग क्यों न चलें?' हीरा ने कहा 'भागना कायरता है।' दोनों उपाय सोचते हैं "उपाय यही है कि उस पर दोनों जने एक साथ चोट करें। मैं आगे से रगेदता हूँ, तुम पीछे से रगेदो, दोहरी मार पड़ेगी तो भाग खड़ा होगा। ज्यों ही मेरी ओर झपटे तुम बगल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना। जान जोखिम में है, पर दूसरा उपाय नहीं।" यही हुआ भी। शत्रु जब द्वार पर ही आ गया हो, तब आत्मरक्षा में संघर्ष के सिवाय और कोई चारा नहीं है। जीवन उन्हीं का है, जिनमें जिजीविषा है

*जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर,
जो उससे डरते हैं।
वह उनका, जो चरण रोप,
निर्भय होकर लड़ते हैं। (कुरुक्षेत्र, सप्तम सर्ग, पृ. 91)।*

फिर भी बहुत ईमानदारी से 'दिनकर' से पूछें कि मनुजता युद्ध के बीच बचेगी या शान्ति में पनपेगी, पल्लवित होगी? तो उत्तर मिलता है कि गुणदोषमय विश्व में परिस्थिति के अनुसार विवेकजन्य कर्म और जीवन का रक्षण अनिवार्य है यह नीति भी है और स्वधर्म भी। दूसरे क्रम में 'दिनकर' युधिष्ठिर की उम्मीदों और आशाओं

में एक धर्म का दीपक जलाकर जली सूखी रसा के प्राणों को सरस करके विश्व में समता, सद्भाव और शान्ति की अमृत-धार बहाना चाहते हैं। 'दिनकर' के युधिष्ठिर से दिनकर के पितामह भीष्म कहते हैं

*फूलों पर आँसू के मोती, और अश्रु में आशा।
मिट्टी के जीवन की छोटी, नपी-तुली परिभाषा ॥
आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।*

(कुरुक्षेत्र, सप्तम सर्ग, पृ. 107)

भारत स्वतंत्र हुआ। जो जीवन-मूल्य स्वतंत्रता-संग्राम में हमारी ताकत थे, आजादी मिलने के बाद शनैः शनैः उन्हें किनारे कर दिया गया। जिस सामाजिकता और पारस्परिकता ने भारत के संस्कृति-कुण्ड में स्नान कर समय-समय पर नई शक्ति प्राप्त की, उस संस्कृति-कुण्ड को रुके हुए जल की संज्ञा देकर उसकी उपेक्षा की जाने लगी। मनुष्य से मानवता छिटक गई। राजतंत्र निरंकुश और अत्याचारी हो उठा। शोषण नए-नए वेश में दलितों-पतितों-किसानों-निःशक्तों के शोषण को उद्धृत हुआ। यह दूसरे प्रकार का पराधीनता-फंदा था, जो असंतोष और सामाजिक-आर्थिक वैषम्य को जन्म देता है। 'दिनकर' ने इनसे उत्पन्न स्थिति की विशद चर्चा कुरुक्षेत्र में की है और शान्ति के उपाय रेखांकित करते हुए उसके स्थापित होने की कामना की है। रामधारी सिंह 'दिनकर' राष्ट्र की सांस्कृतिकता के उद्गाता हैं, उनकी कविता 'परहित निरत मानव' के माध्यम से इस भू पर स्वर्ग का आवाहन और शान्ति का स्थापन करने वाली पर्णकुटधारी कविता है, जो 'संस्कृति के अध्याय' रचती है।

प्रेमचन्द की प्रासंगिकता का मतलब

कामेश्वर पंकज*

आलोचना जगत में प्रासंगिकता और पुनर्व्याख्या दो पृथक-पृथक कर्म हैं। प्रासंगिकता रचनाकार को उसी रंग-रूप में पढ़ने और समझने को बाध्य करती है, जिस रंग-रूप में उनकी रचनाएँ रची गई हैं। पुनर्व्याख्या बदलते हुए समय में रचना की प्रासंगिकता तलाशती है। पुनर्व्याख्या में तलाशी गई प्रासंगिकता और रचना की कालगत प्रासंगिकता दोनों अलग-अलग होती हैं। किसी भी रचनाकार के प्रासंगिक होने का अर्थ है उनकी रचनाएँ अपने रचना काल की समस्याओं-संवेदनाओं में पढ़ी जा रही हैं। जब हम किसी रचनाकार की प्रासंगिकता पर विचार करने बैठते हैं, तो यह मान लिया जाता है कि उनकी रचनाएँ जिन सामाजिक समस्याओं, जीवन मूल्यों और आदर्शों पर आधारित हैं, वे आज भी उपस्थित हैं। किसी भी रचनाकार की प्रासंगिकता उनकी रचनाओं में व्यक्त मानवीय मूल्यों और सामाजिक समस्याओं को केन्द्र में रखकर तय की जाती है। रचनाकार अपने समय-समाज के जिन मानवीय मूल्यों के पोषण और संरक्षण के लिए रचना में प्रवृत्त हुए हैं, क्या बदले हुए समय और संवेदना के साथ वे आज भी मूल्यवान और प्रगतिशील हैं? समस्यामूलक रचनाओं की समस्याएँ और उन्हें देखने का दृष्टिकोण क्या आज भी बरकरार हैं? इन्हीं कुछ प्रश्नों से गुजरकर किसी रचनाकार की प्रासंगिकता की तलाश हो सकती है। इस तलाश में रचनाधर्मिता के एक सत्य को ओझल नहीं किया जा सकता है। वह यह कि शान्ति काल और संक्रान्ति काल की रचनाओं का दायित्व एक नहीं होता। शान्ति काल में रचनाकार अपने समय-समाज के जीवन मूल्यों और लोक जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करता है। अपने समय-संवेदना को उनके ही रूप-रंगों में व्यक्त करता है। अपनी जातीय विरासत, सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण और पोषण करता है। संक्रान्ति काल में रचनाकार का दायित्व संघनित हो जाता है। इस काल में रचनाकार अपने को समेट लेता है। वह वहीं केन्द्रित होना चाहता है, जहाँ संक्रमण के संघातों से समाज और

* डॉ. कामेश्वर पंकज, हिन्दी-विभाग, के. बी. झा. महाविद्यालय, कटिहार (बिहार)

पिन854105.

संवेदनाओं में परिवर्तन हो रहे हैं। संक्रान्तिकाल में एक सजग रचनाकार संक्रमित भाव-बोध को एक स्वस्थ और स्वच्छ दिशा देता है। इसमें नए-पुराने जीवन-मूल्य सामाजिक अवधारणाओं, राष्ट्रीय समस्याओं आदि के टकराव-बिखराव और निर्माण को रचनाकार अपनी रचनाओं में व्यक्त करता है और अपने समय को एक दिशा देना चाहता है। प्रेमचन्द मूलतः इसी कोटि के रचनाकार हैं।

प्रेमचन्द का रचनाकाल 1906 ई. से लेकर 1936 ई. तक तीस वर्षों का रहा है। यह भारतीय समाज का संक्रान्तिकाल था। राजनीति में यह तिलक-गाँधी का युग था। विभिन्न आन्दोलनों, सत्याग्रहों, राजनीतिक विचारधाराओं की टकराहटों और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की पृष्ठभूमि का यह राजनीतिक काल था। सामाजिक भूमि पर यह पुनर्जागरण और स्वच्छन्दतावादी काल था। साहित्य में भारतेन्दु और द्विवेदी युग में जो नवजागरण और सुधारवादी आन्दोलन हुए उनका सकारात्मक असर समाज पर पड़ने लगा था। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में काव्यधारा में छायावाद का युग था जिसमें वर्जनाएँ टूट रही थीं। कथा साहित्य की पृष्ठभूमि तिलिस्मी, ऐयारी, जासूसी कथाओं-उपन्यासों का रहा है। इन उपन्यासों ने हिन्दी का व्यापक पाठक वर्ग तैयार किया। प्रेमचन्द की ऐतिहासिक देन और महत्ता यह है कि उन्होंने कथा साहित्य को सामाजिक यथार्थ से जोड़ा। कथा का नायकत्व मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, दलित शोषित किसान-मजदूरों को दिया। प्रेमचन्द ने उस समाज का चित्रण किया जो सामंती परम्पराओं, रूढ़ियों, जीवन मूल्यों, आदर्शों से घिरा हुआ, विविध विषमताओं और समस्याओं से जर्जर और टूटा हुआ था। वस्तुतः प्रेमचन्द ने समाज के सभी वर्गों का चित्रण किया लेकिन वे स्वयं उनके पक्ष में खड़े रहे जो सामंतों और महाजनी सभ्यता से पीड़ित और शोषित हैं। इस पक्षधरता के अनुरूप प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में उन्हीं आदर्शों, सिद्धान्तों और जीवन मूल्यों को महत्त्व दिया जिन्हें नवजागरण काल में विभिन्न सुधारवादी संस्थाओं-आर्यसमाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना सभा-आदि ने प्रचारित और स्थापित किया। प्रेमचन्द भारत के इसी संक्रान्ति काल के सजग कथाकार हैं। इनकी रचनाएँ तत्कालीन संक्रमण के प्रत्यक्ष गवाह और सच्चा दस्तावेज हैं।

कथा सम्राट प्रेमचन्द ने ग्यारह उपन्यास, तीन सौ कहानियाँ, तीन नाटक और अनेक सामाजिक तथा साहित्यिक समस्यामूलक निबन्ध लिखे हैं। प्रेमचन्द की रचनाएँ आज कम-से-कम सत्तर साल पुरानी हैं। यहाँ किंचित अवकाश लेकर प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण कृतियों की मूल संवेदनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। 'सेवा सदन' और 'निर्मला' भारतीय नारी की पराधीनता की कथाएँ हैं। 'सेवा सदन' की मूल कथा वेश्या जीवन पर आधारित है। सुमन नाम की एक लड़की दहेज के अभाव में एक अयोग्य व्यक्ति से व्याही जाती है। परिस्थिति और परिवेश वश वह वेश्या बन जाती है। प्रेमचन्द वेश्या-समस्या के लिए अपना समाधान प्रस्तुत करते हैं कि वेश्याओं की

बस्ती शहर से दूर होनी चाहिए। इससे वहाँ इज्जतदार सभ्रान्त व्यक्ति जाने से परहेज करेंगे। ग्राहकों की कमी से वेश्यावृत्ति में कमी आएगी। वेश्या-पुनर्वास के लिए सेवा सदन जैसी संस्था होनी चाहिए। 'निर्मला' मूलतः दहेज प्रथा से उत्पन्न पारिवारिक एवं सामाजिक दुखान्त कथा है। कथा के अन्त में निर्मला की मृत्यु इस कुत्सित सामाजिक प्रथा को मिटाने के लिए एक भारी चुनौती है।

'रंगभूमि' की कथा मुख्यतः सूरदास और जॉनसेवक की है। इसमें सूरदास महात्मा गाँधी और जॉनसेवक भारत के नवोदित उद्योगपति के प्रतीक माने जाते हैं। उपन्यास का मूल स्वर है पूँजीपति और भारी उद्योग का गाँधीवादी विरोधक्योंकि गाँधी जी मानते थे कि भारी उद्योग से ग्रामीण कुटीर उद्योग एवं आपसी सहयोग को खतरा है। इस खतरे के विरुद्ध 'रंगभूमि' के संघर्ष हैं, जिसमें सूरदास की हत्या हो जाती है। 'कर्मभूमि' भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में युवकों को महती भूमिका को रेखांकित करते हुए भारतीय युवाओं को प्रेरित करने वाला उपन्यास है। 'गबन' का नायक रमानाथ है। अपनी पत्नी जालपा की आभूषण प्रियता के कारण रमानाथ गवन के मामले में फँस जाता है। शर्म के मारे वह कलकत्ता भाग जाता है। जालपा के सद् प्रयास से सब ठीक हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार के संघर्ष की कथा है। कहानी के अंत में जमींदार का हृदय-परिवर्तन होता है। रामराज्य की आदर्श उपस्थिति की कल्पना करके प्रेमाश्रम संस्था की स्थापना की जाती है। 'गोदान' भारतीय ग्रामीण जीवन और कृषि सभ्यता का महाकाव्य है। भारतीय किसान दोहरे शोषण का शिकार है। एक ओर जमींदार और दूसरी ओर बैंकर दलाल, महाजन और अंग्रेज सरकार किसानों का शोषण करते हैं। ग्रामीण और शहरी, पूरी अर्थ व्यवस्था में, पूँजीवाद का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। कृषि सभ्यता की इस त्रासदी को प्रेमचन्द ने जिस उदात्त भाव और शिल्प से व्यक्त किया है कि 'गोदान' की गणना विश्व के महानतम उपन्यासों में होती है।

ये रचनाएँ अपने समय-समाज की जटिलताओं और सुगमताओं को प्रस्तुत करती हैं। समसामयिक समस्याओं को देखने और सुलझाने के दृष्टिकोण इन रचनाओं में हैं। प्रेमचन्द कालीन समाज को समझने के लिए इनकी रचनाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। लेकिन आज अस्सी साल बाद परिस्थितियाँ बदल गई हैं।

प्रेमचन्द मूलतः निम्न मध्यवर्गीय समाज के चितरे हैं। इनकी रचनाओं के मुख्य चरित्र इसी वर्ग से आते हैं। प्रेमचन्द की प्रतिबद्धता इसी वर्ग के साथ है।

प्रेमचन्द के रचनाकाल (1918 ई. से 1936 ई. तक) से आजादी तक प्रेमचन्द कालीन निम्न मध्यवर्ग का आर्थिक हास इस कदर हुआ कि जुम्मन-अलगू, होरी महतो, वकील तोता राम, किरानी रामनाथ जैसे यथार्थ पात्र 'पूस की रात' के हल्कू की स्थिति में आ गए। इनकी कथा तो यहीं समाप्त हुई। साठ के दशक में जिस निम्न मध्यवर्ग का उदय हुआ वह निश्चित रूप से 'कर्मभूमि' के अमरकान्त जैसे नौजवानों के

बेटे-बेटियों के जवान होने का समय था। हिन्दी साहित्य की नई कविता, नई कहानियों में इन्हीं नौजवानों की इच्छा-आकांक्षा और मोह भंग की कथा-व्यथा है। सत्तर के दशक में गरीबी मिटाओ और फिर सम्पूर्ण क्रान्ति, दूसरी आजादी सदी के अन्तिम दशक में उदारीकरण आदि तत्त्वों ने भारतीय समाज की दशा और दिशा ही बदल दी है। इन तत्त्वों ने भारतीय समाज के पारम्परिक जीवन मूल्यों और आदर्शों की चमक को धुंधला कर दिया। इससे भारतीय समाज में जो परिवर्तन आया, वह प्रेमचन्द कालीन समाज से पृथक था। प्रेमचन्द की चौथी पीढ़ी नब्बे के दशक में प्रवेश करती है। इस युवा वर्ग के सामने आजादी के बलिदानों और सपनों का कोई मोल नहीं है (लगे रहो मुन्ना भाई' फिल्म का मुन्ना भाई और उसका मित्र महात्मा गाँधी के बारे में कुछ नहीं जानता हैयह बात यूँ ही नहीं है।) यह पीढ़ी गरीबी हटाओ, सम्पूर्ण क्रान्ति आदि भूल चुकी है। यह तो उदारीकरण से उत्पन्न खुले बाजार की नीति में अपनी जगह तलाशती है। इसके सामने प्रेमचन्द कालीन समाज के सारे मूल्य, आर्थिक चिन्तन आदि झूठे और उथले हो गए हैं।

प्रेमचन्द कालीन वेश्या-समस्या, दहेज प्रथा किसान-मजदूरों की बदहाली निम्न मध्यवर्गीय मरजादा आदि समस्याएँ आज भी हैं, परन्तु बदली हुई परिस्थिति में आज सामाजिक आवश्यकताओं और जटिलताओं के साथ इन समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आया है। वेश्या-समस्या कल भी थी, आज भी है, लेकिन कल जिस सरलता के साथ थी, आज उससे अधिक जटिलता के साथ है। आज शहरों में कॉल-गर्ल्स की बढ़ती संख्या ने चिह्नित वेश्यालयों को फीका कर दिया है। ऐसे में वेश्या-समस्या का प्रेमचन्दीय समाधान आज की पीढ़ी की समझ से बाहर होना लाजमी है। निर्मला समाज के जिस वर्ग से आती है, आज उस वर्ग की लड़कियाँ 'कैरियर कॉन्सस' हो गई हैं। अब अनमेल विवाह कम होते हैं, बहुएँ अधिक जलाई जाती हैं। 'निर्मला' की समस्या आज भी है, मगर जटिलताएँ दूसरी तरह की हैं। गबन जिसका आधुनिक नाम घोटाला है, आज किसी के लिए अपरिचित नहीं है। महा घोटाले के इस दौर में रामनाथ का गबन और उसका शर्मसार होकर भाग जाना आश्चर्यचकित करता है। अगर रामनाथ आज होता तो अपने चुंगी-विभाग का चेयरमेन होता। यह वाक्य व्यंग्य ही सही, लेकिन आज की सच्चाई है। उपन्यास 'गबन' में एक संदेश यह भी है कि अपने चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण रखना और गबन जैसे कारनामों से सर्वदा बचना। इस जीवन मूल्य की रक्षा करना प्रेमचन्द चाहते थे। कहना नहीं होगा कि इस मूल्य को हम किस कदर रौंद चुके हैं। 'नमक का दारोगा' के ईमानदार दारोगा कम ही सही आज भी होते हैं; धन से अधिक धर्म को महत्त्व देने वाले लोग आज भी हैं, परन्तु उनकी ईमानदारी अनुकरणीय कम और उपहास का विषय अधिक है। आज पंचों में परमेश्वर के तत्त्व प्रायः नहीं और जाति-सम्प्रदाय के तत्त्व अधिक हैं। देश की बड़ी पंचायतविधान सभा, संसद में लोग जाति-सम्प्रदाय के नाम पर चुने जाते हैं।

वस्तुतः वर्णवाद में भयानक परिवर्तन हुआ है। प्रेमचन्द कालीन वर्णवाद सामाजिक था प्रेमचन्द का पात्र सवा सेर गेहूँ के बदले अपनी बची-खुची जमीन ब्राह्मण को दे देता है, दुखी चमार किसी ब्राह्मण का बेगार खटता है इन पात्रों का वर्ण चिन्तन सामाजिक संरचना पर आधारित है। आज भी वर्णवाद कम नहीं है परन्तु आज का वर्णवाद राजनीतिक संरचना को पुख्ता करता है। वर्ण चिन्तन का यह बदलाव सर्वविदित है वस्तुतः कोई रचनाकार अपनी रचना में कोई आदर्श प्रस्तुत करता है तो इसका मतलब यह होता है कि उस समाज में वह मूल्य मान्य है, उस मूल्य के प्रति समाज में आस्था है। यह नहीं कि उस समय-समाज में वह मूल्य शत-प्रतिशत लागू थे। जब 'पंच परमेश्वर' या 'नमक का दरोगा' कहानी लिखी जा रही थी तो उस समय भी अलगू और मुंशी वंशीधर जैसे पात्र दुर्लभ थे। लेकिन उन दिनों पात्रों के चरित्र अधिक मूल्यवान् थे। उस समय-समाज में इन मूल्यों के प्रति आस्था अधिक थी। आज इन मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण में पर्याप्त बदलाव आया है। मुंशी वंशीधर को कल भी न्याय नहीं मिला था और आज भी नहीं मिल रहा है। फर्क यह आया है कि कल वह आदरणीय था आज अछूत है। पंडित आलोपीदीन का मिडिया इसकी ईमानदारी को अन्यायी-खुदगर्जी का जामा पहना देगा।

आज किसान जमींदारों और महाजनों के चंगुल से मुक्त है। लेकिन 'गोदान' (1936 ई.) से आज तक भारतीय किसानों की दशा में कोई गुणात्मक सुधार नहीं हुआ है। किसान उस समय भी खेती से विमुख थे और आज भी हैं। गाँव में आज भी खेत हैं, मजदूर और किसान हैंवे सभी कर्ज से लदे हैं। आज कर्ज देने वाला बदल गया है। बैंक और सहकारी समितियाँ किसानों को न्यूनतम अपेक्षित लाभ भी नहीं पहुँचा पाती हैं। आज उदारीकरण के दौर में कृषि उत्पादों का विस्तृत बाजार उपलब्ध है, परन्तु इसका लाभ बिचौलिए ले जाते हैं। होरी महतो आज भी फटेहाल हैं। 'गोदान' में होरी अपने विद्रोही पुत्र गोबर को समझाता है "फिर मरजादा तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजादा है, वह नौकरी में नहीं।" लेकिन आज का होरी खेती से तौबा करता है। वह अपनी 'मरजादा' नौकरी में तलाशता है। उसकी अदम्य इच्छा गाय पालने की (कृषि सभ्यता को जीवित रखने की) नहीं है, बल्कि उसके बेटे को कहीं चपरासी की नौकरी लग जाए तो वह अपनी बची-खुची जमीन बेचने के लिए तैयार है। आज यू.पी., बिहार से लाखों की संख्या में गोबर जैसे युवक महानगरों में काम की तलाश में जा रहे हैं। मर्यादा के नाम पर इन्हें रोकने के लिए आज कोई होरी तैयार नहीं है। प्रेमचन्द इन्हीं होरी-गोबर के प्रतिबद्ध कथाकार हैं।

प्रेमचन्द किसान-मजदूरों के संघर्ष के हिमायती रहे हैं। 'रंगभूमि' हो या 'प्रेमाश्रम' या 'गोदान', सभी संघर्ष में प्रेमचन्द किसान-मजदूरों के साथ हैं। यहाँ एक बात गौर करने की है कि कोई भी संघर्ष सफल नहीं रहा। प्रेमचन्द ने किसी भी संघर्ष को सफल नहीं बनायान सूरदास सफल हुए, न मनोहर और गोदान का सत्याग्रह भी

विफल ही रहा प्रेमचन्द ने ऐसा जिस कारण भी किया हो, किया है। लेकिन उन्होंने संघर्ष की चेतना को प्रज्वलित किया और उसे महत्त्व दिया है। प्रेमचन्द ने अपने वक्तव्यों में कहा है कि वे कम्यूनिस्ट हैं, परन्तु उसी हद तक जब जमींदार और सेठ किसानों का शोषण बंद कर दें। वे गाँधीवादी नहीं हैं, परन्तु गाँधीजी के 'हृदय परिवर्तन' के सिद्धान्त के पक्षधर हैं। इनके अनुरूप प्रेमचन्द ने चरित्रों और घटनाओं की रचना की है। वे अपने कई आलेखों में बोल्शेविक क्रान्ति के कायल रहे हैं। आज भी किसान-मजदूर अपने हक-हकूक के लिए संघर्षरत हैं। बुनियादी बातें उत्पादन और विनिमयवही हैं। लेकिन भारतीय किसान-मजदूरों के सामने कई नई चुनौतियाँ आ गई हैं, जो प्रेमचन्द के समय न थीं जैसे बाजार समिति, कृषि उत्पाद पर बाजारवाद का हमला, उदारीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों का फैलाव आदि ने किसान-मजदूरों को भ्रमित कर रखा है। आज खेतों में किसान और मिलों में मजदूर हताश हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की शर्तों के आगे सरकार बेवश है। मजदूरों के हाथ-पाँव के साथ मुँह बँधे हुए हैं। अनाज अधिक उपज रहा है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बिक नहीं रहा है किसान को लागत मूल्य भी नहीं मिल रहा है। यह वर्ग आत्महत्या की सीमा तक हताश है। हलकू हताश नहीं था। वह विद्रोह की बात सोचता है, गोबर भी विद्रोही है। हलकू और गोबर अपने शोषक को अपने समाने पाते हैं। आज का किसान-मजदूर भ्रमित है। ऐसे में प्रेमचन्दीय सत्याग्रह से इतर संघर्ष और संगठन की आवश्यकता है।

प्रेमचन्द की चिन्ता राष्ट्रीय से अधिक सामाजिक थी। अंग्रेजों से छुटकारा वे भी चाहते थे, लेकिन वे देख रहे थे कि 'जॉन' की जगह 'जनार्दन' ही आएगा, इसलिए जरूरी है कि सामाजिक चेतना को जाग्रत किया जाए। प्रेमचन्द राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही सामाजिक स्वतंत्रता के लिए भी संघर्षशील रहे। प्रेमचन्द के नायक सामाजिक समस्याओं जमींदारी शोषण, महाजनी सभ्यता, खेत खलिहान, लगान, किसान-मजदूर विपन्नता, दहेज प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता आदिके विरुद्ध संघर्ष करते हैं। प्रेमचन्द का मानना है कि भारत के आम लोग शोषण-चक्र में फँसे हैं। शोषक वर्ग हैंसत्ता, धनवान और बुद्धिजीवी। इसलिए उनका विश्वास था कि सत्ता परिवर्तन से ही समाज में परिवर्तन नहीं होगा। धनवान लोग ही सत्ता पर काबिज हो जाएंगे और 'जनार्दन' ही 'जॉन' बन जाएंगे। प्रेमचन्द की रचना के एक दशक बाद ही देश आजाद हुआ। हुआ वही जो प्रेमचन्द नहीं चाहते थे। वस्तुतः यह प्रेमचन्द या गाँधीजी के बस की बात न थी कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता भी मिल जाए। यह आगे तय होना था। लेकिन यहाँ तो लंका में जो भी गया वह रावण हो गया। आजादी के वर्षों बाद भारतीय समाज और सामाजिक चिन्तन में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन में प्रेमचन्द के कथा साहित्य में वर्णित सामाजिक समस्याओं को ढूँढ़ना और आज की सामाजिक समस्याओं को

प्रेमचन्द्रीय चिन्तन और दृष्टि से देखना, दोनों ही गैर जरूरी है।

आज प्रेमचन्द के साहित्य में प्रासंगिकता देखने का समय बीत गया है। प्रासंगिक नहीं होने का मतलब यह कतई नहीं है कि वह रचनाकार साहित्य की मुख्य धारा में नहीं रहा, हाशिए पर चला गया या वह पढ़ने योग्य नहीं रहा, आदि आदि। वस्तुतः आज प्रेमचन्द को पढ़ना उनके समय-समाज से गुजरना है, उनके समय-समाज के जीवन मूल्यों और परम्पराओं से जुड़ना और उनसे परिचय करना है। हम साहित्य के माध्यम से ही अपनी परम्पराओं और प्रगतिशील जीवन मूल्यों से जुड़ते हैं। प्रेमचन्द का साहित्य इन कार्यों के लिए आज भी मूल्यवान है। प्रासंगिक नहीं हाने का अर्थ केवल इतना है कि रचनाएँ जिन सामाजिक समस्याओं और मूल्यों पर आधारित हैं, उनमें बदलाव आया है, रचना का प्रसंग बदल गया है। रचना की व्याख्या भूत कालिक-प्रसंग में होगी। बदले हुए परिवेश में प्रेमचन्द को पढ़ने की आवश्यकता है। इस परिवेश में प्रेमचन्द के साहित्य से किस प्रकार ऊर्जा प्राप्त हो सकती है यह तलाशने की जरूरत है। भारतीय निम्न मध्यवर्ग में जो संघर्षशील ऊर्जा है उसकी पहचान प्रेमचन्द को जितनी थी, उतनी विरले किसी को है। प्रेमचन्द की इस 'पहचान' को जीवित रखने के लिए प्रेमचन्द के पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है। पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या अर्थात् नए प्रसंगों में प्रेमचन्द्रीय साहित्य का अध्ययन एवं व्याख्या। जिन कारणों से प्रेमचन्द के नायक त्रस्त हैं, वे कारण आज भी हैं। बदली हुई परिस्थिति में उन कारणों से प्रेमचन्द के पात्र कहाँ और कैसे संघर्ष कर रहे हैं इन्हें समझने की आवश्यकता है। प्रेमचन्द को प्रासंगिक कहना उनके अध्ययन के नए गवाक्ष को बंद करने जैसा है। उनके पुनर्पाठ से ये गवाक्ष खुलेंगे।

नवीन मूल्यों का वाहक है आधुनिक काव्य

अपर्णा सारस्वत*

अनादिकाल से ही मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के उपायों में लगा हुआ है। उत्कृष्ट जीवन जीने के लिए मनुष्य स्वयं ही अपने मानदंड तय करता है। ये मानदंड सदैव एक से नहीं रहते, समय और परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। देशकाल की परिस्थितियाँ ही मानक-निर्धारण का कारण बनती हैं। कल जिन परिस्थितियों को आधार मानकर मानकों का निर्धारण हुआ और जिनकी सहायता से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को दिशा मिली। आज जरूरी नहीं कि वे मानक बदली हुई परिस्थितियों में हमारे सहायक बनें।

समय और परिस्थिति के अनुसार पुराने मानकों में संशोधन व नवीकरण अवश्य होना चाहिए। साथ ही समयानुकूल नवीन-मूल्यों की भी उद्भावना होनी चाहिए। इस दृष्टि से आधुनिक काव्य प्रशंसनीय है। आधुनिक काव्य में पुराने मूल्यों की संशोधन प्रक्रिया के साथ-साथ नए मूल्यों की उद्भावना भी परिलक्षित होती है। आधुनिक कविता किसी को चमत्कृत करती है, किसी को रसहीनता का आभास कराती है, किसी को वह मानव मन की विकृतियों का चित्रण मात्र प्रतीत होती है। किन्तु वास्तविकता यही है कि आधुनिक कविता में अपना परिवेश उभरकर आया है, कविता में यथार्थ की गूँज व्याप्त है। परिवेश के मूल्यगत क्षरण से भला कविता अपना दामन कब तक बचाए रख सकती थी, कुछ बूँद तो उस पर पड़ी ही थीं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि आधुनिक कविता मूल्यहीनता से ग्रस्त है। आधुनिक कवियों के विशाल योगदान को उदार दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। अधिकांश कवि साहित्यिक मर्यादाओं व परम्पराओं का पालन कर रहे हैं। यह कविता मानव आस्थाओं

*डॉ. अपर्णा सारस्वत, रीडर (हिन्दी), केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, दिल्ली केन्द्र, दिल्ली।

को प्रतिष्ठित कर मानवीय मूल्यों के प्रति पूर्णतया सचेत नजर आती है। इसमें व्यापक मानवता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना व्याप्त है।

आधुनिक कविता में किसी दिव्य शक्ति के प्रति आस्था व्यक्त न कर मनुष्य मात्र में आस्था व्यक्त की गई है। इस मनुष्य को महत्त्व प्रदान करते हुए डॉ. जगदीश गुप्त ने कहा है

“रूढ़िग्रस्त चेतना से युक्त मानव-मूल्य के रूप में स्वातन्त्र्य के प्रति सजग अपने मानव के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृत संकल्प कुटिल स्वार्थ भावना से विरत, मानव मात्र के प्रति स्वाभाविक सह-अनुभूति से युक्त, संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः समान मानने वाला, मानव-व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनीतिक सत्ता के आगे अनवनत, प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ संगठित अन्तःकरण से युक्त, सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवेक सम्पन्न होगा। अगर कवि की आत्मरंजन भावाभिव्यक्ति एवं संवेदना संप्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नई कविता का उद्देश्य है।”

डॉ. जगदीश गुप्त : ‘नई कविता’, अंक-4, 1954, पृ. 12-13.

आज की प्रमुख सामाजिक समस्याओं को आधुनिक कविता में प्रमुखता से स्थान मिला है भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, बाल-श्रम, प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग, बाजारीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संचार माध्यमों का दुरुपयोग, काली-कमार्ड, कालाबाजारी, बढ़ती जनसंख्या, घटते संसाधन, विभिन्न तरह की मानसिक व्याधियों के प्रति आज का कवि जागरूक है “मैं नया कवि हूँ/ इसी से जानता हूँ/ सत्य की चोट बहुत गहरी होती है/ मैं नया कवि हूँ/ इसी से मानता हूँ/ चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है / इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ / झूठी मुस्कानें नहीं बेचता।

मैंने कब कहा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

आधुनिक काव्य में राजनीति व मूल्यों को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। समसामयिक जीवन राजनीति से प्रभावित है अतः राजनीति से जुड़ना प्रायः सभी कवियों के लिए आवश्यक हो गया है। आधुनिक कवियों ने साहित्यकार के लिए राजनीतिक सूझ-बूझ को अति आवश्यक माना है। राजनीतिक सूझ-बूझ वाला साहित्यकार ही आम आदमी को राजनीतिक शिकंजे से बचा सकता है। इसी सन्दर्भ में कवि सर्वेश्वर का कथन द्रष्टव्य है, “रचानाकार यदि ईमानदारी से अपने रचनाकर्म को करता है तो वह राजनीतिक परिदृश्य से कटकर रह नहीं सकता है। आज की जटिल और क्रूर परिस्थितियों से जूझने-लड़ने वाला कोई भी रचनाकर जिन्दगी के अर्थ को पाने के लिए

अंततः इस प्रश्न से कतरा कर नहीं रह सकता। देश में क्या होगा क्या नहीं होगा के साथ पूरा मानव भविष्य राजनीति से जुड़ गया है।”

कवि के साथ अंतरंग साक्षात्कार

कवि धूमिल के काव्य में भी राजनीतिक मूल्यों का वर्चस्व व्याप्त है। धूमिल का जन-सामान्य से गहरा नाता था। जनसामान्य की समस्त समस्याओं के पीछे क्लुषित राजनीति व्याप्त थी। धूमिल राजनीतिक कुचालों को भलीभाँति जान गए थे। इसीलिए राजनीतिक डण्डे से ही राजनीति पर प्रहार कर राजनीति करने वालों को सावधान करने का प्रयत्न करते थे और साथ ही सामान्य जनता को राजनीतिक शिकंजे से बचाने की पूरी कोशिश भी करते “इसलिए मैं फिर कहता हूँ कि हर हाथ में / गीली मिट्टी की तरह / हाँ हाँ मत करो/ तनो/ अकड़ो/ अमर बेलि की तरह मत जियो/ जड़ पकड़ो/ बदलो-अपने आपको बदलो/ यह दुनिया बदल रही है।”

संसद से सड़क तक, पृ. 48

कवि शशि की प्रबन्ध कृति ‘अग्नि-सागर’ में भी राजनीतिक मूल्यों की विशद विवेचना हुई है। कृति का निष्कर्षानुसार राजा का कर्तव्य व्यक्तिगत सुख-दुःख की परिधि तक सीमित नहीं है। उसके कर्तव्य सीमारहित हैं। उसका थोड़ा सा भी प्रमाद राष्ट्र को संकट में डाल सकता है। कृति में मेधा ऋषि के कथनों के माध्यम से कवि ने बड़ी दूरदर्शिता से राजनीतिक मूल्यों की व्याख्या कराई है “वत्स! श्रेष्ठ शासक में सदैव/ शौर्य होता सिंह सा/ याचना और माँगना/ उसे है नहीं शोभता/ कायर निरीह बन/ शरण नहीं माँगता/ और न स्वीकारता/ नैराश्य दया-दीनता।”

कवि सर्वेश्वर ने भी अपनी काव्य-कृतियों में विशेषकर “गर्म हवाएँ” में राजनीतिक मूल्यों को बहुत महत्त्व दिया है। राजनीतिक मूल्यों का निर्वाह करने वाले लोहिया को उन्होंने आदर्श राजनीतिज्ञ माना है।

आधुनिक काव्य में पर्यावरण के प्रति संवेतना का भाव भी एक नवीन मूल्य के रूप में प्रकट हुआ है। आर्थिक विकास के नाम पर प्रकृति के अविवेकपूर्ण, स्वार्थपूर्ण दोहन और खनिज संपदा के अनुपातहीन खनन से भू-स्खलन, भूकम्प आदि विनाशक घटनाएँ संसार भर में घट रही हैं। निहित स्वार्थों के कारण पर्यावरण से छेड़छाड़ मौसम को कुप्रभावित कर रही है। मानव के अस्तित्व के लिए संकट पैदा हो गया है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश जिन पंचतत्त्वों से मानव-शरीर का निर्माण हुआ है वे पाँचों ही तत्व आज प्रदूषण के शिकार हो रहे हैं। हर युग का कवि किसी न किसी रूप में प्रकृति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता रहा है। आज कोरी कृतज्ञता प्रकट करने से प्रकृति को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। जो प्रकृति हमारी जीवन-दायिनी है आज उसी को अपने जीवन के रक्षार्थ हमारी आवश्यकता है।

मनुष्य का बढ़ता लालच प्रकृति के संतुलन को मिटाने पर तुला है। आज इस बढ़ते लालच पर लगाम लगाने की बहुत आवश्यकता है। आधुनिक कवियों में कवि

शशि, कवि सर्वेश्वर व कवि केदारनाथ सिंह ने प्रकृति संरक्षण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

आधुनिक काव्य में विरोध का भाव भी एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ है क्योंकि कोरे मानवत्व के सहारे रूखी-सूखी खाकर और ठंडा पानी पीकर आध्यात्मिकता में डूब जाना आधुनिक कवि को स्वीकार नहीं है। वह मानवत्व पर विश्वास तो करता है किन्तु अपने और जन-सामान्य के अधिकार के लिए सतत जागरूक भी रहता है। आधुनिक कवियों ने पूँजीवादी, साम्राज्यवादी, सामन्तवादी, अधिनायकवादी ताकतों के विरोध में अपना स्वर तीव्र किया है।

सन्त कबीर मनुष्य की आंतरिक शक्ति को जगाने के पक्षधर थे। आधुनिक कवि मनुष्य की आंतरिक शक्ति के साथ-साथ उसकी सामूहिक शक्ति को बढ़ाने के प्रयास में नजर आता है। आधुनिक युग की समस्याओं में भारी विविधता व बढ़ोत्तरी हुई है अतः मूल्यगत अवमूल्यन भी गई गुना होकर कई रूपों में फूट पड़ा है। चरमराती व्यवस्था को देखकर आधुनिक कवि अधिक विक्षुब्ध व उत्तेजित है। व्यवस्था के बदलाव के लिए वह बृहद स्तर पर क्रान्ति का उद्घोष करने में रत है। जन-सामान्य के रक्षार्थ आधुनिक कवि तुरत विरोध प्रकट करने में व तुरत कार्यवाही करने में विश्वास करता है—“थोड़े दिन और/बादल छँटेंगे/कल के सिरमौर/पैरों पड़ेंगे।”

कवि सर्वेश्वर के काव्य में भी विरोध के स्वरों की अनुगूँज व्याप्त है। उनका विरोधी तेवर सन्त कबीर की याद दिलाता है—“लेकिन याद रखो/अन्याय और यातना की सीमा/जब पार हो जाती है/तो बेजान में ही सबसे पहले जान आती है”खूँटियों पर टंगे लोग, दस्ताने पृ. 31

कवि शशि ने यद्यपि शांत, संयमित रहकर ही अपनी बात कहने की कोशिश की है किन्तु फिर भी कहीं न कहीं उनका भी धैर्य डगमगा गया है और वे भी विरोध प्रकट कर बैठे हैं—“लगने दो आग/आस्थाओं को टूटने दो/परम्पराओं के किले/ढहने दो/समाज की/बेहूदा दीवारों को/लुटने दो प्रथाओं के जकड़े खजाने को/मरने दो बुद्धे विश्वासों को।” शिलानगर में, पृ. 55

प्रेम के तराने गाने वाले कवि नीरज ने भी अपने काव्य में विद्रोह के स्वर गुँजाए हैं—“आज विश्व के वैभव की मैं ईंट हिलाने आया हूँ/मैं विद्रोही हूँ, जग में विद्रोह कराने आया हूँ।” विद्रोही कविता, सं. 38

कवि जगदीश की कविता में भी विरोध के स्वरों की कमी नहीं है—“धरती पर ओ सोने वालो/नंगे तन नित रहने वालो/उठो-उठो आलस्य त्याग तुम आज एक हुंकार लगा दो/आज मचा दो क्रान्ति कृषक तुम, आज विश्व में क्रान्ति मचा दो।”

आधुनिक परिवेश में बिना विरोध जताए अपनी बात सत्ता-पक्ष तक पहुँचाना निश्चय ही कठिन था। कवि लीलाधर जगुड़ी जी ने भी जनता को अपना विरोध प्रकट करने के लिए सदैव प्रेरित किया है—“उसकी मजबूत हठवादिता को/उसकी मजबूत

दुर्भावनाओं को/सड़क पर मिला दो/उनकी पाखंडी संगीनें छीनो/और दोनों पर निकालकर/उन घमण्डी आँखों का पानी/चिड़िया को पिला दो।”

आधुनिक काव्य में महानगरीय-संस्कृति के प्रति वितृष्णा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। आधुनिक युग में समस्त देश का जीवन महानगरों में सिमट गया है। इन महानगरों में रहने वाले ही समस्त देश का संचालन करते हैं। महानगरों की समस्याओं को सम्पूर्ण राष्ट्र की समस्या मान लिया जाता है। महानगरों की विचारधारा को ही सम्पूर्ण देश की विचारधारा मान लिया गया है। अधिकांश साहित्यकार भी महानगरों में आकर अपनी मेधा शक्ति की इतिश्री कर लेते हैं। प्रारम्भ में तो उनकी आत्मा बेचैन हो उठती है किन्तु शनैः शनैः वे परिस्थितियों से समझौता करना सीख जाती है और प्रारम्भिक विरोध के स्वर धीरे-धीरे मन्द होते दिखाई देते हैं। बढ़ती आधुनिकता की प्रवृत्ति ने महानगरीय जिन्दगी को कृत्रिम बना दिया है। हार्दिक सम्बन्धों के अभाव में महानगर में पागलपन, अनिद्रा और आत्महत्या की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। कवि शशि की प्रसिद्ध कृति ‘शिलानगर’ में महानगरीय संस्कृति की स्वार्थपरता, संवेदनशून्यता, आत्मकेन्द्रीयता एवं उसकी शोषक प्रवृत्ति का नग्न चित्रण हुआ है—“पहाड़ से लेकर महानगर तक सर्वत्र शिलाएँ/हृदयहीन, भाव शून्य।”

‘शिलानगर’, श्यामसिंह ‘शशि’

आधुनिक काव्य में मातृभाषा एवं हिन्दी भाषा के प्रति आस्था व श्रद्धा का भाव भी प्रकट हुआ है। उनके अनुसार भाषा मनुष्य की जातीय परम्परा, संस्कृति व इतिहास की पहचान होती है। सत्ता के धिनौने खेलों से भाषा की अस्मिता भी खतरे में है। जन-सामान्य पर जबरदस्ती परायी भाषा थोपी जा रही है। अधिकांश आधुनिक कवियों ने भाषायी विवाद को जन्म देनेवाली सत्ता पक्ष की कूटनीतिक चालों का विरोध किया है—“और छीनने आए हैं वे/हमसे हमारी भाषा/यानी हमसे हमारा रूप/जिसे हमारी भाषा ने गढ़ा है।” ‘छीनने आए हैं’, कुआनो नदी, सर्वेश्वर

कवि केदारनाथ सिंह जी भी अपनी मातृभाषा में ही अपनी सम्पूर्णता तलाशते हैं—“ओ मेरी भाषा/मैं लौटता हूँ तुम में/जब चुप रहते-रहते/अकड़ जाती है मेरी जीभ/दुखने लगती है/मेरी आत्मा।” ‘मातृभाषा’, अकाल में सारस, पृ. 11

आधुनिक काव्य में मातृभूमि के प्रति प्रेम का भाव व्यक्त हुआ है। कवि शशि की रचनाओं में इस मूल्य को सर्वाधिक वरीयता प्रदान की गई है। विशेषकर उनकी ‘लाल सवेरा’, ‘लहू के फूल’ और ‘शैत्य शतक’ नामक कृतियों में राष्ट्रीय मूल्यों की ही अनुगूँज व्याप्त है। कवि सर्वेश्वर ने भी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है—“एक-एक चिंगारी/झरती पत्तियाँ हैं/जिनसे अब भी चूम लेना चाहता हूँ/इस धरती को/जिसमें मेरी जड़ें थीं।” ‘खूँटियों पर टंगे लोग’, जंगल की याद मुझे मत दिलाओ, पृ. 13

आधुनिक काव्य में व्यक्ति स्वातन्त्र्य को विशेष महत्त्व मिला है। यद्यपि स्वतन्त्रता की चाह मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर परिवार और समाज के बहुत से पहरे तैनात होते हैं। परिवार हित एवं समाज हित के लिए व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की चाह को दबा देता है किन्तु आधुनिक कवि अपनी स्वतन्त्रता पर कोई पहरा तैनात होता हुआ नहीं देख सकता। आधुनिक कवियों ने कहीं-कहीं व्यक्ति स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग भी किया है जिससे उनका साहित्य कहीं-कहीं अमर्यादित हो उठा है।

राष्ट्र की सेवा और रक्षा में प्राणपण से प्रवृत्त सैनिकों के प्रति आधुनिक कविता में सम्मान का भाव व्यक्त हुआ है। कवि शशि का 'सैन्य शतक' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि नीरज और कवि सर्वेश्वर ने भी सैनिकों के प्रति सम्मान व्यक्त किया है। कवि सर्वेश्वर तो राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति का श्रेय सैनिक को देना चाहते हैं, अतः देश की प्रत्येक उपलब्धि को वह सैनिक को समर्पित करते हैं, "यह सब समर्पित है तुम्हें/क्योंकि तुम्हारे शौर्य और साहस से ही/इन सबके अस्तित्व का परिणय हुआ है।"

इन सब विशिष्ट मूल्यों के अतिरिक्त आधुनिक कविता में आधुनिक समाज, राष्ट्र एवं विश्व में व्याप्त समस्याओं को न केवल उठाया गया है बल्कि उन समस्याओं के निराकरण के लिए भी कवि गम्भीर है। भ्रूण-हत्या, दहेज हत्या, बेरोजगारी, बाल-श्रम, जनसंख्या-विस्फोट, भ्रष्टाचार, परमाणु-युद्ध, यौन स्वातन्त्र्य के दुष्परिणाम, स्त्री-पुरुष जन्म दर की असमानता एवं नारी-सशक्तिकरण जैसे विषय आज की कविता में स्थान पा रहे हैं और समयानुसार इन समस्याओं के निराकरण के लिए अपने-अपने स्तर पर मूल्यों की सर्जना में आधुनिक कवि लगा हुआ है।

पुस्तक-समीक्षा

हिन्दी में दक्षिण-भारतीय साहित्य**

सत्यमित्र दुबे*

भारतीय समाज, संस्कृति, चिन्तन को समृद्धशाली बनाने में दक्षिण भारतीय मनीषियों का अप्रतिम योगदान रहा है। संस्कृत और तमिल का विकास प्रायः साथ-साथ हुआ और दोनों भाषाओं के बीच वैदिक विनिमय और सांस्कृतिक अन्तर्क्रिया की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रही। आठवीं सदी में मलयालम भाषा-भाषी प्रदेश केरल में उत्पन्न आदि शंकराचार्य ने न केवल वेदांत दर्शन का प्रतिपादन किया, पूरे भारत में वैदिक विमर्श की नई चेतना का संचार किया बल्कि देश के चार छोरोंपुरी-द्वारिका, बद्रीनाथ-शृंगेरी में अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए मठों की स्थापना कर भारत की एकता को एक चिरस्थायी सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया। 13वीं-14वीं सदी में तमिल-भाषी रामानुजाचार्य ने वाराणसी आकर दर्शन और भक्ति की धारा आप्लावित की। तेलुगू-भाषी वल्लभाचार्य, कन्नड़-भाषी मध्वाचार्य और मलयालम भाषी निंबार्काचार्य ने मथुरा-वृंदावन को केन्द्र बनाकर कृष्ण भक्ति धारा को हिन्दी माध्यम से प्रसारित किया। इस तरह वैचारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर, भाषाओं की विभिन्नता के बाद भी दक्षिण और उत्तर भारत का सम्मिलन अविरल गति से सदियों से चलता रहा है। यह भी स्मरणीय है कि खड़ी बोली हिन्दी का आरम्भिक रूप 'दक्षिणी' का विकास और पोषण उत्तरी कर्नाटक, तेलंगाना, मराठवाड़ा और खानदेश में हुआ।

दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम का अत्यंत समृद्ध साहित्य है। गत सदी में तमिल के महान कवि सुब्रह्मण्यम भारती और कर्नाटक के प्रख्यात कवि के. वी. पुटप्पा ने भारतीय राष्ट्रियता और प्रान्तीय पहचान से ओत-प्रोत अपनी लेखनी द्वारा स्थानीयता और राष्ट्रियता के बीच समन्वय की सशक्त वैचारिक धारा प्रवाहित की थी। इस प्रसंग में पुटप्पा का यह कथन महत्त्वपूर्ण है

* प्रो. सत्यमित्र दुबे : सम्पर्क : 1216, सेक्टर 37, अरुण विहार, नोएडा 201303; फोन : 2432331 (नि.)

** डॉ. विजयराघव रेड्डी (संपादक), हिन्दी में दक्षिण भारतीय साहित्य : अनुदित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में; अकादमिक प्रतिभा, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 216, मूल्य : 475 रुपए।

भारत मातेय तनुजा ते
जय हे! कर्नाटक मात।

कर्नाटक माता की जय हो जो भारत माता की तनुजा (पुत्री) है। विद्वानों का मानना है कि भारत में 1622 मातृभाषाएँ, और 33 प्रमुख भाषाएँ हैं। हिन्दी-शिक्षण के अध्यापक, भाषा विज्ञान के विद्वान, ख्याति लब्ध साहित्य-सर्जक, दक्षिण भारतीय भाषाओं और हिन्दी के बीच सशक्त सेतु का काम करनेवाले डॉ. विजयराघव रेड्डी द्वारा संपादित 'हिन्दी में दक्षिण भारतीय साहित्य' (अनूदित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में) सूचनाप्रद, विश्लेषणयुक्त एक अनुपम कृति है। इस पुस्तक में संकलित लेखों को दक्षिण की चारों भाषाओं के साथ-ही-साथ हिंदी के आधिकारिक विद्वानों ने लिखा है। वे सभी साधुवाद के पात्र हैं। इस पुस्तक से इस बात की विस्तृत जानकारी मिलती है कि दक्षिण भारत की भाषाओं की सर्जनात्मक दशा और दिशा क्या है। उनके किन उपन्यासों, कविताओं और कहानियों की पुस्तकों, नाट्य विधा, निबंध आलोचना के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध है।

हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं का संबंध सदियों पुराना है। गांधी जी द्वारा सन् 1918 में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना के साथ दक्षिण भारत में हिंदी के पठन-पाठन का व्यवस्थित कार्य आरंभ हुआ; उसके साथ ही हिंदी प्रचारकों और विद्वानों का एक सुशिक्षित, प्रतिबद्ध समूह तैयार हुआ जिससे जुड़े लोगों ने अपना जीवन दक्षिण की भाषाओं का हिंदी के साथ के मिलाप की अभिवृद्धि में लगा दिया। वर्ष 1950 में भारतीय संविधान के लागू होने और हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किए जाने के बाद दक्षिण भारत में हिंदी के पठन-पाठन में और भी रुचि बढ़ी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; नेशनल बुक ट्रस्ट और ज्ञानपीठ के प्रयत्नों से भी दक्षिण भारत के साहित्य के विषय में देश के दूसरे भागों और हिन्दी साहित्य के विषय में दक्षिणी भारत के लोगों की रुचि और जानकारी में दिन प्रति दिन वृद्धि हुई है।

इस पुस्तक में दक्षिण भारत की चारों भाषाओं के साहित्य का हिंदी में अनुवाद का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य बड़ी ही कुशलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। अलग-अलग खंडों में दक्षिण की भाषाओं से हिंदी में अनूदित काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना के ग्रन्थों और उनके लेखकों का सम्यक परिचय एवं विवेचन है।

दक्षिण भारत के इन विद्वानों ने साधक की तरह अपनी भाषा के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। पूरी लगन के साथ उन्होंने हिन्दी सीखा है। उत्तर भारत और विशेष कर हिन्दी प्रदेशों में भारत की अन्य भाषाओं को सीखने की ललक का अभाव रहा है।

प्रशिक्षण, भाषा, साहित्य, संस्कृति के स्तर पर सामान्य रूप से दक्षिण और उत्तर भारत और विशेषकर तेलुगू और हिन्दी को जोड़ने में डॉ. विजय राघव रेड्डी का विशेष योगदान है। इस सूचनाप्रद, विश्लेषण-युक्त पुस्तक के सम्पादन के लिए वे और विभिन्न लेखों को लिखने के लिए आधिकारिक विद्वान वधाई के पात्र हैं।

निमाड़ी साहित्य का इतिहास**

सत्यमित्र दुबे*

भारत में हिन्दी प्रदेशों के साथ ही अन्य भाषाभाषी प्रदेशों में भी अनेक बोलियाँ हैं, जिनकी अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और अलिखित अथवा लिखित रचनाशील परम्पराएँ हैं। उत्तर प्रदेश में जिस तरह ब्रज, खड़ी बोली, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली बोलियाँ हैं, वैसे ही हिन्दी भाषाभाषी मध्य प्रदेश में भी आदिवासी बोलियों के अतिरिक्त, मालवी, बुंदेली, बघेली, निमाड़ी आदि बोलियाँ हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद, भोपाल ने निमाड़ी, मालवी, बुंदेली बघेली साहित्य के इतिहास को प्रकाशित करने की योजना बनाई है। यह पुस्तक उसी प्रयोजना की एक कड़ी है।

मध्य प्रदेश के चार जिलेखंडवा, वुरहानपुर, वड़पानी, निमाड़ के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं। सतपुड़ा और विंध्याचल के बीच में बसा भूभाग निमाड़ है जिसे नर्मदा दो भागों में विभाजित करती है। मध्य प्रदेश और मालवा के दक्षिण पश्चिम में स्थित भूभाग को निमाड़ कहा जाता है। निमाड़ नि (नीचे) + माड़ (स्थान, प्रदेश) से मिल कर बना है जिसका अर्थ होता है नीचे का प्रदेश। विंध्याचल और सतपुड़ा की तलहटी में बसा होने के कारण इसे नीचे का प्रदेश अथवा 'निमाड़' कहा जाता है। एक अन्य विश्वास के आधार पर पौराणिक काल से ही यहाँ के लोग 'नीवार' नामक चावल का सेवन करते थे, अतः इसे निमाड़ कहा गया।

इस पुस्तक में उपसंहार, परिशिष्ट, सन्दर्भ ग्रन्थ के अतिरिक्त निमाड़ और निमाड़ी, निमाड़ी की वाचिक परम्परा : लोक साहित्य, निमाड़ी का संत-साहित्य निमाड़ी का आधुनिक साहित्य, निमाड़ी का समसामयिक साहित्य, निमाड़ी का गद्य साहित्य

* प्रो. सत्यमित्र दुबे : सम्पर्क : 1261, सेक्टर 37, अरुण विहार, नोयडा 201303; फो. 0120243233। (नि.)

** डॉ. श्रीराम परिहार : निमाड़ी साहित्य का इतिहास; साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद, भोपाल, 2008, पृ. 152, मूल्य 100 रुपए।

जैसे छः अध्याय हैं। भारत की सामाजिक संरचना और संस्कृति को समझने के लिए सभी भाषाभाषी क्षेत्रों, उपक्षेत्रों, बोलियों, उनकी सांस्कृतिक परम्परा को समझना आवश्यक है। इस पुस्तक के लेखक डॉ. श्री राम परिहार हिन्दी और निमाड़ी के विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त लगन के साथ न केवल निमाड़ी साहित्य का इतिहास लिखा है बल्कि यत्नपूर्वक इसके इतिहास को खोजा और जुटाया भी है। यह पुस्तक निमाड़ी भाषा, साहित्य, संस्कृति को समझने के लिए एक मूल्यवान कृति है। इसके लिए डॉ. श्री राम परिहार और साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद, भोपाल बधाई के पात्र हैं।

पृ. 126 का शेष

पत्रिकाएँ

लोकमत समाचार, दीपावली विशेषांक, 2009. समयचेता समाजचेता, खंड 1 एवं 2; संपादक: गिरीश मिश्र, लोकमत भवन, पं. जवाहरलाल नेहरू मार्ग, नागपुर-440012; पृष्ठ: 812, मूल्य: 60.00 रुपए।

गीता स्वाध्याय, धर्म और संस्कृत के स्वाध्याय की पारिवारिक मासिक पत्रिका; मई 2008; वर्ष: 7 अंक: 5; संपादक: डॉ. श्रीलाल नेत्र विशेषज्ञ; श्री गीता स्वाध्याय मण्डल, सोजत नगर, जिला पाली, पिन-306104 (राजस्थान); पृष्ठ: 16; मूल्य: 10.00 रुपए।

संकल्प, हिन्दी अकादमी, हैदराबाद; अप्रैल-जून, 2009; वर्ष: 2; संपादक : प्रो. टी. मोहन सिंह, प्लॉट नं. 10, रोड नं. 6, समतापुरी कॉलोनी, न्यू नागोल के पास, हैदराबाद-500 035 (आं.प्र.), पृष्ठ: 152; मूल्य: 40.00 रुपए।

समवेत सुमन, ग्रंथमाला-9, (कहानी विशेषांक); संपादक: देवेन्द्र सिंह दाऊ; प्रकाशक: कछवाहदार साहित्य सृजन समिति, रौन, जिला भिण्ड (म.प्र.); पृष्ठ 72।

प्रयास, आठवें दशक का भारतीय साहित्य; अंक-4, वर्ष 2007-08; संपादक: डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र; प्रकाशक: 99, शहा आरकेड, साताक्रूज, गोवा-403005; पृष्ठ: 90।

Heritage Explorer, A Special Issue on the occasion of **Independence Day 2009**; A monthly news bulletin, Vol. IX. No. 05; August 2009; Published by : Heritage Foundation, K.B. Road, Paltan Bazar, Guwahati-781008, Assam; Price : Rs. 30.00

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ में प्रकाशित सभी आलेखों को पढ़ गया। वस्तुतः यह एक शोध-पत्रिका है। इसके सारे आलेख (अनुदित सामग्री सहित) शोधपरक तथा ज्ञानवधक हैं। इसके पूर्व मैंने शीघ्रता में एक पत्र लिखा था। इसलिए नहीं कि वह किसी समुदाय विशेष को केन्द्र कर लिखा गया था, बल्कि इसलिए कि यह एक यथार्थवादी मूल्यांकन है और ऐतिहासिक सच्चाई है।

प्रकाशित सारे आलेख गंभीर चिन्तन युक्त हैं तथा तथ्यों पर आधारित हैं। पत्र-पत्रिकाएं तो बहुत निकलती हैं। अच्छी भी हैं पर ऐसी पत्रिका, जिसमें प्रकाशित सभी आलेख स्तरीय, खोजपूर्ण हों, कम हैं। गंभीर, समसामयिक समस्याओं को लेकर चिन्तित रहने वालों के लिए यह पत्रिका अनिवार्य है। इतिहास, राजनीति, आलोचना, साहित्य के विद्यार्थियों तथा सामान्य एवं विशिष्ट वर्ग के पाठकों के लिए यह पत्रिका अनिवार्य है। विशेषांक भेज रहा हूँ।

श्रीनिवास शर्मा, साहित्य संपादक, ‘छपते छपते’ (हिन्दी दैनिक), 26 सी. क्रीक रो, कलकत्ता-700 014 (पं. बंगाल)

‘चिन्तन-सृजन’ का जुलाई-सितम्बर 2009 का अंक मिला। सदैव की भाँति आपका सम्पादकीय गंभीर मुद्दे की ओर ध्यान आकर्षित करता है। व्यक्तिगत हित के लिए सामूहिक बलि चढ़ाने वालों की अच्छी खबर आपने ली है। पत्रिका के अन्य लेख भी विचारोत्तेजक हैं। जेफरी गोल्डवर्ग (अनुवाद-शंकर शरण) का लेख जेहादी आतंकवाद का भयावह चित्र खींचता है। मजहबी जूनून से ग्रस्त यह आतंकवाद कहीं ‘पेलोपोनेशियन वार’ (एथेंस और स्पार्श के बीच चला युद्ध, जिसमें विद्या बुद्धि का उपासक एथेंस स्पार्श की पाशविक शक्ति से पराजित होकर बुरी तरह टूट गया था।) का रूप न ले ले और ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना से ओतप्रोत, शांतिप्रिय लोग पाशविक और राक्षसी बल के आगे नतमस्तक न हो जाएँ। इनका शमन बुद्ध की करुणा से नहीं किया जा सकता। उन्हें कृष्ण-चाणक्य नीति से ही वश में किया जा सकता है। ‘छोटे जेहाद’ (बाह्य संघर्ष) को अंतहीन बनाने की इच्छा रखनेवालों को तर्क से समझाना कठिन है।

रामबहादुर राय ने मीडिया के बिकाऊ रूप की जो शल्य चिकित्सा की है, वह समीचीन है। संचार माध्यम आज अत्यधिक शक्तिशाली हो गये हैं किन्तु अधिकांश अपनी शक्ति का उपयोग भ्रष्ट राजनीति एवं भ्रष्ट नौकरशाही से तालमेल बनाने और अनुचित लाभ कमाने के लिए कर रहे हैं। यह सच है कि अखबारों ने पिछले लोकसभा चुनाव में कॉलम-के-कॉलम बेचे। राजनीति और अफसरशाही में बेशर्मी आई है तो मीडिया क्यों पीछे रहे! यहीं स्वतंत्रता पूर्व देशी भाषाओं की पत्रकारिता की बलिदानी चेतना बड़ी शिद्दत के साथ याद आती है।

पहली बार 'चिन्तन-सृजन' में एक साथ साहित्य से सम्बद्ध 6 लेख हैं; सभी स्तरीय हैं। कैलाशचन्द्र पंत का श्रीनरेश मेहता से संबन्धित लेख महत्वपूर्ण है। उनका यह कहना सही है कि श्रीनरेश मेहता जीवन और कविता में दो नहीं लगते। पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु का आलेख उल्लेखनीय है। जयंतीप्रसाद नौटियाल की शोध रिपोर्ट अंग्रेजी की गुलामी करनेवालों के लिए एक आईना है। पर मुझे पुष्पपाल सिंह से शिकायत है। उन्होंने जिन कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' का अपने लेख 'उपन्यास का वर्तमान और नई संवेधता' में गुणगान किया है, वह उचित नहीं है। उपन्यास शिल्प की दृष्टि से जितना भी चमत्कारी हो अंतर्वस्तु के स्तर पर दुरभिसंधि से पूर्ण है। वह दुरभिसंधि है 'वाम इस्लाम जुगलबंदी' की, जिसकी झलक उपन्यास के इस वाक्य में मिलती है 'जब नफरत का जहर मेरी नसों में दौड़ता है तब मैं इन्सान का चोला उतार कर हिन्दू बन जाता हूँ' (उप. पृ. 69)। अन्य वामपंथी इतिहासकारों की तरह कमलेश्वर ने इतिहास को विकृत करने में महारत हासिल की है। बहुसंख्यक हिन्दुओं और उनके आर्ष ग्रंथों के प्रति विष वमन कम्प्यूनिस्टों की पुरानी आदत है। वे मुस्लिम लीग के सुर में सुर मिला चुके हैं और पाकिस्तान निर्माण का समर्थन भी कर चुके हैं। वस्तुतः वामपंथी भी सामी मजहब की अनुयायियों की तरह हैं जो पूरी दुनिया को एक ही रंग में रँगना चाहते हैं। जो लोग बाद के गुजरात के दंगों की चर्चा करते हैं जब उन्हें उसकी पृष्ठभूमि गोधरा का षडयंत्र नहीं दिखाई देता तो कश्मीर से विस्थापित लाखों हिन्दुओं की पीड़ा कहीं से दिखाई देगी। इसीलिए पुष्पपाल सिंह को 'दर्दपुर' (क्षमा कौल) और 'कथा सतीसर' (चन्द्रकांता) चर्चा लायक उपन्यास नहीं लगे। संभवतः उनकी प्रगतिशीलता आड़े आ रही होगी। उन्हें तो 'अकाल संध्या' जैसे 'प्रायोजित यथार्थ' के उपन्यास महत्वपूर्ण लगे। यह तथ्य है कि जनवाद से 'जन' और 'प्रगतिशीलता' से 'प्रगति' शब्द आज उसी तरह से गायब हो गए हैं जैसे गदहे के सिर से सींग। 'जनवाद' और 'प्रगतिशीलता' एक दड़बे में सिमट गई है, पर जिससे समाज और साहित्य का भला होने वाला नहीं है। अस्तु।

डॉ. सदानन्दप्रसाद गुप्त, सम्पादक: 'समन्वय';
प्रोफेसर: हिन्दी विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

न्यायशास्त्र का विधान है कि न्याय को न्याय की तरह प्रतीत होना चाहिए अन्यथा न्याय पर करेगा भरोसा कौन? Justice should appear as justice. इस बात का पूरा ख्याल करते हैं आप। महात्मा गाँधी के हिन्द स्वराज पर केन्द्रित लगता है यह अंक (जुलाई-सितम्बर 2009)। कारण, इसपर दो लेख हैं। साहित्य, सृजन, चिन्तन में हिन्द स्वराज के विचारों की समता पर डॉ. शीतांशु का लेख, तो गाँधीवाद की पूर्व पीठिका के निर्माता सरदार पूरन सिंह पर महीप सिंह का लेख। पूरा देश हिन्द स्वराज की महिमा की गीत गा रहा है। अपने इतिहास को दुहरा रहा है तो आप का पीछे रहना न्यायसम्मत नहीं होगा। मैं आपको पक्का गाँधीवादी मानता हूँ। अन्य बातों में भले मतवैभिन्न्य हो जाए पर एक बात में यह स्वतः सिद्ध है। महात्मा गाँधी ने 'हरिजन सेवक' (1934 का एक अंक) में लिखा है : "तुम दुनिया के उद्धार का उत्तरायित्व अपने सिर पर मत लो। तुम अपनी जवाबदेही का पालन निष्ठापूर्वक करो। इसी से देश का उद्धार होगा।" आप अपने देश, समाज और उसकी नानाविध समस्याओं से चिंतित हैं और उनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समाधान अपनी लेखनी से कर रहे हैं। कार्य वा साधयामि शरीरं वा पातयामि' की बात यहाँ गौरतलब है।

'लड़ाकू पत्रकारिता से बिकाऊ पड़ाव पर' (राम बहादुर राय) में यह स्पष्ट किया जाता है कि सरकार, मन्त्री, पत्रकारिता का चीरहरण करता है, इसका अपनी सुविधानुसार उपयोग, सदुपयोग और दुरुपयोग करता है और मीडिया मौन रहता है। लोकतंत्र के तीन स्तंभ प्रेस, पब्लिक ओपिनियन और प्लेटफार्म में प्रेस का ही वर्चस्व बढ़ रहा है और उसका खुलेआम दुरुपयोग भी हो रहा है। डॉ. पुष्पपाल सिंह का लेख शोधपरक है और उपन्यास पर नई दृष्टि से विचार करता है।...

- **प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय,** वृन्दावन, मनोरम नगर,
एल.सी. रोड, धनवाद-626001 (झारखण्ड)

'चिन्तन सृजन' (अप्रैल-जून) पर 'सामान्यजन संदेश', वर्ष 21, अंक 86, जुलाई-अगस्त-सितम्बर-2009, लोहिया अध्ययन केन्द्र, नागपुर के विचार

पत्रिका के सम्पादकीय में 2009 के चुनावी परिदृश्य एवं जनादेश का विश्लेषण करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि नीति निर्धारण के केन्द्र में राष्ट्र हो तभी राष्ट्र सशक्त बनेगा। लोहिया जन्मशताब्दी वर्ष निमित्त सत्यमित्र दुबे का जन्मशताब्दी के उद्घाटन समारोह में दिए गए अभिभाषण के प्रमुख अंश दिए गए हैं। लेखक ने डॉ. लोहिया पर महात्मा गाँधी तथा मार्क्स के चिन्तन के प्रभाव की पड़ताल करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि डॉ. लोहिया का समाजवादी लोकतंत्र सामुदायिकता, समता और संपन्नता से युक्त होकर पूँजीवाद और साम्यवाद से अलग हटकर एक नया विकल्प प्रस्तुत करता है। चूँकि हिन्द स्वराज को सौ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं, इस पर

डॉ. नरेशकुमार अम्बष्ट का आलेख वर्तमान सभ्यता, महात्मा गाँधी और हिन्द स्वराज महत्त्वपूर्ण है। कमल किशोर गोयनका ने राष्ट्रीय काव्यधारा में दिनकर के काव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यशदेव शल्य का 'कला का सत्य', लोकेशचंद्र का 'वर्ण जातिप्रथा', डॉ. कुमार विमल का 'राजनीतिक संस्कृति एवं चुनाव', ए.सी. सिन्हा का 'गोखालैंड का गोरखधंधा' तथा अजयकुमार सिंह का आलेख 'भारत में अध्यापक शिक्षा : नए परिप्रेक्ष्य' जानकारीयुक्त और दिशा देने वाले हैं। पत्रिका नाम के अनुरूप चिंतनीय है, सृजनात्मक पठनीय सामग्री समेटे हुए हैं। अंक संग्रहणीय है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

पुस्तकें

हिन्द स्वराज पश्चिमी दृष्टि में, हिन्दी रूपान्तर : नन्दकिशोर आचार्य, संपादक : डी. आर. मेहता; प्रकाशक : देवेन्द्रराज मेहता; संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक, प्राकृत भारती अकादमी, 13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017; प्रथम संस्करण : 2009 ई., पृष्ठ : 80, मूल्य : 50/- रुपए।

आँधियों के दरमियाँ, गजल-संग्रह, संपादक : जयसिंह आर्य 'जय'; पाँखी प्रकाशन, 403/ई-1, मार्ग संख्या-4, पूर्वी बाबरपुर, शाहदरा, दिल्ली-110 032; प्रथम संस्करण : 2009, पृष्ठ : 80, मूल्य : 160/- रुपए।

पलाश वन दहकते हैं, (स्व. मंजु अरुण की प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन), संपादक : डॉ. विनय मिश्र; प्रकाशक : नया आयाम प्रकाशन, बी-161, हसन खाँ मेवात नगर, अलवर (राजस्थान); प्रथम संस्करण : 2009, पृष्ठ : 436, मूल्य : 250/- रुपए।

मूल्यानुप्राणित कबीर-ग्रन्थावली, संपादक : डॉ. अर्पणा सारस्वत, एम.ए. (हिन्दी), साहित्याचार्य पी-एच.डी.; रीडर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा; प्रकाशन वर्ष : 2005; पृष्ठ : 102।

नयन दीप, (कहानी संग्रह), संपादक : शांति अग्रवाल; प्रकाशक : कारदबिनी क्लब, हैदराबाद, 93/सी, राजसदन, वेंगलराव नगर, हैदराबाद-500 038; प्रथम संस्करण : 2009 ई.; पृष्ठ : 104; मूल्य : 100/- रुपए।

शेष पृ. 122 पर

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848